णाणुज्जोवो जोवो
जैनविद्या संस्थान श्री महावीरजी

महावीर जयन्ती 2600

22-23

जैनविद्या

पण्डित आशाधर विशेषांक

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

राजस्थान

जैनविद्या

जैनविद्या संस्थान, श्री महावीरजी द्वारा प्रकाशित

वार्षिक

शोध-पत्रिका

अप्रैल, 2001-2002

सम्पादक मण्डल
श्री नवीनकुमार बज
श्री महेन्द्रकुमार पाटनी
श्री अशोक जैन
डॉ. जिनेश्वरदास जैन
डॉ. प्रेमचन्द राँवका

प्रबन्ध सम्पादक
श्री नरेन्द्रकुमार पाटनी
मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

सम्पादक
डॉ. कमलचन्द सोगाणी
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका

सहायक सम्पादक
सुश्री प्रीति जैन

प्रकाशक
जैनविद्या संस्थान
प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी (राजस्थान)

वार्षिक मूल्य
30.00 रु. सामान्यत:
60.00 रु. पुस्तकालय हेतु

मुद्रक
जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.
जयपुर

विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	लेखक का नाम	पृ. सं.
	प्रकाशकीय		
	सम्पादकीय		
1.	कलि-कालिदास : पं. आशाधर	**डॉ. जैनमति जैन**	1
2.	प्रज्ञापुञ्ज आशाधर	**श्री रमाकान्त जैन**	17
3.	कलिकाल कालिदास आचार्यकल्प पं. आशाधरजी	**डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल**	27
4.	प्रज्ञापुरुषोत्तम पण्डित आशाधर का व्यक्तित्व और कर्तृत्व	**डॉ. आदित्य प्रचण्डिया**	41
5.	पण्डित आशाधरजी द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली और उनकी विवेचना	**डॉ. संजीव प्रचण्डिया 'सोमेन्द्र'**	49
6.	पण्डित आशाधर एवं उनका त्रिषष्टिस्मृति शास्त्र	**प्रो. एल.सी. जैन** एवं **ब्र. संजय जैन**	55
7.	प्रतिष्ठासारोद्धार : एक सामान्य परिचय	**डॉ. कस्तूरचन्द्र 'सुमन'**	61
8.	गृहस्थ का लक्षण	**पण्डित आशाधर**	66
9.	पण्डित श्री आशाधरजी की दृष्टि में 'अध्यात्म-योग-विद्या'	**डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल**	67
10.	जिनवाणी	**पण्डित आशाधर**	80
11.	पण्डितप्रवर आशाधर के सागारधर्मामृत की प्रमुख विशेषताएँ	**डॉ. रमेशचन्द जैन**	81
12.	अनिष्टाश्च त्यजेत्सर्वा	**पण्डित आशाधर**	90
13.	कर्मकाण्डी पण्डितप्रवर आशाधर	**डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव**	91
14.	सागारधर्मामृत में वर्णित प्रतिमा : प्रयोग और प्रयोजन	**डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया**	99
15.	पं. आशाधरजी द्वारा प्रतिपादित सद्गृहस्थ का लक्षण और श्रावक के आठ मूलगुण	**डॉ. सूरजमुखी जैन**	105
16.	प्रमादचर्या	**पण्डित आशाधर**	112
17.	सागारधर्मामृत में सप्तव्यसन : रूप-स्वरूप	**डॉ. राजीव प्रचण्डिया**	113
18.	सागारधर्मामृत में भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेचन	**श्रीमती अर्चना प्रचण्डिया**	125
19.	स्त्री की उपेक्षा हानिकारक	**पण्डित आशाधर**	135

जैनविद्या

(शोध-पत्रिका)

सूचनाएँ

1. पत्रिका सामान्यत: वर्ष में एक बार, महावीर जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित होगी।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसंधान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।
3. रचनाएँ जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्राय: उसी रूप में प्रकाशित किया जाएगा। स्वभावत: तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का होगा।
4. यह आवश्यक नहीं कि प्रकाशक, सम्पादक लेखकों के अभिमत से सहमत हों।
5. रचनाएँ कागज के एक ओर कम से कम 3 से.मी. का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए।
6. अस्वीकृत/अप्रकाशित रचनाएँ लौटाई नहीं जायेंगी।
7. रचनाएँ भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता —

सम्पादक
जैनविद्या
जैनविद्या संस्थान
दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी
सवाई रामसिंह रोड
जयपुर-302 004

प्रकाशकीय

शोध पत्रिका 'जैनविद्या' का यह अंक 'पण्डित आशाधर विशेषांक' के रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर हम हर्षित हैं।

पं. आशाधर तेरहवीं शताब्दी के बहुमुखी प्रतिभा के धनी, असाधारण कवि एवं जैनागम में निष्णात विद्वान थे। इनका अध्ययन अगाध और अपूर्व था। इन्होंने संस्कृत भाषा में न्याय, व्याकरण, काव्य, अलंकार, अध्यात्म, पुराण, शब्दकोश, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष आदि विषयों से सम्बन्धित विपुल ग्रन्थों की रचना कर जैन वाङ्मय को समृद्ध करने में अभूतपूर्व योगदान किया।

इन्होंने लगभग बीस मौलिक ग्रन्थों के सृजन के अतिरिक्त अनेक टीका-पंजिका, पूजा-विधान, भक्ति, प्रतिष्ठा आदि की रचना भी की।

'धर्मामृत' इनकी कालोत्तीर्ण रचना है जो गृहस्थों एवं साधुओं के आचार को दर्शानेवाले 'सागार धर्मामृत' और 'अनगार धर्मामृत' - इन दो खण्डों में विभाजित है।

इनके अपरिमित ज्ञान के कारण अनेक मुनियों और विद्वानों ने इन्हें 'प्रज्ञापुंज', 'नय-विश्वचक्षु', 'कलि-कालिदास', 'सूरि' आदि अनेक उपाधियों से विभूषित किया। गृहस्थ होने पर भी इन्हें 'आचार्यकल्प' कहा जाता है। दिगम्बर जैन-परम्परा में इनका जैसा गृहस्थ विद्वान और ग्रन्थकार अन्य कोई दिखाई नहीं देता।

जिन विद्वानों ने अपनी रचनाओं के द्वारा इस अंक के प्रकाशन में सहयोग प्रदान किया है उन सभी के प्रति हम आभारी हैं।

पत्रिका के सम्पादक, सम्पादक मण्डल के सदस्यगण, सहयोगी सम्पादक सभी धन्यवादार्ह हैं।

नरेशकुमार सेठी
अध्यक्ष

नरेन्द्रकुमार पाटनी
मंत्री

प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सम्पादकीय

'जैनागम में निष्णात पण्डितप्रवर आशाधर तेरहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान थे।' 'राजस्थान का माण्डलगढ़ (दुर्ग) जिला भीलवाड़ा में पं. आशाधर का जन्म हुआ था। जैनधर्म में श्रद्धालु भक्त सल्लक्षण पं. आशाधर के पिता थे और माता का नाम श्री रत्नी था। पं. आशाधर के पिता को राजाश्रय प्राप्त था।'

'अत्यधिक सुशील एवं सुशिक्षित सरस्वति नामक महिला को पं. आशाधर की पत्नी होने का सौभाग्य मिला था। इनके छाहड़ नामक एक पुत्र था जिसने अपने गुणों के द्वारा मालवा के राजा अर्जुन वर्मा को प्रसन्न किया था।'

'वि.सं. 1249 में जब आशाधर 19 वर्ष के हुए तो उस समय मुसलमान राजा शहाबुद्दीन द्वारा सपादलक्ष देश पर आक्रमण किया गया था और वहाँ उसका राज्य हो गया था।'

'जैनधर्म पर आघात होने और उसकी क्षति होने के कारण ये अपना जन्मस्थान छोड़कर सपरिवार मालवा मण्डल की धारापुरी नामक नगरी में आ गये थे। उस समय वहाँ विंध्य वर्मा राजा थे। यहीं पर रहकर आशाधर ने वादिराज के शिष्य पं. धरसेन और उनके शिष्य पं. महावीर से जैनधर्म, न्याय और जैनेन्द्र व्याकरण पढ़ा था।'

'अपनी विद्या-भूमि धारानगरी में पं. आशाधर जैन एवं जैनेतर समस्त साहित्य का अध्ययन कर बहुश्रुत हो गये थे। इसके पश्चात् धारा को छोड़कर नालछा आ गये।'

'पं. आशाधर बहुमुखी प्रतिभा के धनी एवं असाधरण कवि थे। इनके अपरिमित ज्ञान को देखकर श्री मदनकीर्ति मुनि ने इन्हें प्रज्ञा-पुञ्ज (ज्ञान का भण्डार) कहा है। इसी प्रकार इनके गुरुत्व से प्रभावित एवं आकर्षित होकर अनेक मुनियों एवं विद्वानों ने इन्हें अनेक उपाधियों से विभूषित किया है। मुनि उदयसेन ने पं. आशाधर को 'नय विश्वचक्षु' और 'कलि कालिदास' कहकर अभिनन्दन किया। भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने आशाधर को 'सूरि', 'सम्यग्धारियों में शिरोमणि' आदि कहा है। उत्तरवर्ती विद्वानों ने पं. आशाधर को 'आचार्यकल्प' कहा है।'

'पं. आशाधर ने धारानगरी थोड़कर नालछा आने के पश्चात् साहित्य-सृजन कार्य आरम्भ किया। कृतियों की रचना, साहित्य सेवा, जिनवाणी की सेवा एवं उपासना को जीवन का केन्द्र बनाया। आशाधर का अध्ययन अगाध और अभूतपूर्व था। यही कारण है कि उन्होंने संस्कृत भाषा में न्याय, व्याकरण, काव्य, अलंकार, अध्यात्म, पुराण, शब्दकोश, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, वैद्यक (आयुर्वेद), ज्योतिष आदि विषयों से सम्बन्धित विपुल ग्रन्थों की रचना कर जैन वाङ्मय को समृद्ध करने में अभूतपूर्व योगदान किया।'

'आचार्यकल्प पण्डित आशाधरजी की अद्वितीय जैन साहित्य साधना, अगाध बुद्धि-कौशल एवं स्वानुभव से परिपूर्ण धर्मामृतरूप जैनागम-सार उनकी कृति 'अध्यात्म-रहस्य' में सहज ही द्रष्टव्य है।'

'दिगम्बर परम्परा में कर्मकाण्ड की महिमा को मुखरित करनेवाले प्राचीन जैन आचार्यों में पं. आशाधर की द्वितीयता नहीं है।'

'पं. आशाधर कर्मकाण्ड में निष्णात विद्वान थे, इस बात का संकेत उनके 'जिनयज्ञकल्प' नाम के ग्रन्थ से मिलता है। इस ग्रन्थ में विभिन्न प्रकार की धार्मिक विधियों का वर्णन छह अध्यायों में किया गया है। उदाहरणार्थ - यज्ञ-दीक्षाविधि, मण्डप-प्रतिष्ठाविधि, वेदी-प्रतिष्ठाविधि, अभिषेक-विधि, विसर्जन विधि, ध्वजारोहण विधि, आचार्य-प्रतिष्ठाविधि, सिद्धप्रतिमा-प्रतिष्ठाविधि, श्रुतदेवता प्रतिष्ठाविधि, यक्षादि प्रतिष्ठाविधि आदि उल्लेखनीय हैं।'

'दिगम्बर परम्परा में इनका जैसा बहुश्रुत गृहस्थ विद्वान और ग्रन्थकार अन्य कोई नहीं दिखाई देता। इन्होंने विपुल परिमाण में साहित्य-सृजन किया है।'

'दिगम्बर जैन-परम्परा के साधुवर्ग और गृहस्थवर्ग में जिस आचार-धर्म का पालन किया जाता है उसकी जानकारी के लिए आचार्यकल्प पं. आशाधर का 'धर्मामृत' एक क़ालोतीर्ण कृति है। जैन परम्परा और प्रवृत्ति के इस मर्मज्ञ मनीषी ने जैनाचार से सम्बद्ध पूर्ववर्ती समग्र आकर-साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन किया था, जिसे उन्होंने अपने 'धर्मामृत' में प्रामाणिक, विश्वसनीय और सुव्यवस्थित रीति से उपस्थापित किया है।'

'जैनधर्म के जाज्वल्यमान नक्षत्र के रूप में प्रतिष्ठित श्रीमत्पण्डितप्रवर आशाधरजी की कृतियों में 'सागारधर्मामृत' एक श्रावक धर्मदीपक ग्रन्थ है। इसमें श्रावकों के लिए कौन-सी बातें हेय और उपादेय हैं, इस तथ्य को वैज्ञानिक व तर्कसम्मत ढंग से रेखांकित करते हुए आदर्श एवं उन्नत तथा अहिंसापरक पद्धति पर आधृत धार्मिक जीवनचर्या को अंगीकार करने पर विशेष बल दिया गया है।'

'उनका 'सागारधर्मामृत' उनके वैदुष्य का परिचायक तो है ही, साथ ही उनके विस्तृत स्वाध्याय और निपुणमति को भी द्योतित करता है।'' उनका सागारधर्मामृत एक ऐसी रचना बन गई जिसका अध्ययन करने पर पूर्ववर्ती श्रावकाचारों का अध्ययन अपने आप हो जाता है।'

'पण्डित आशाधरजी कृत 'सागारधर्मामृत' में जहाँ श्रावकों के मूल व उत्तर गुणों आदि की चर्चा हुई है, वहीं श्रावकों के लिए कौन-से पदार्थ खाने योग्य हैं और कौन-से त्यागने योग्य हैं? और क्यों? कितना और कब इनका सेवन किया जाए? इन सबका भी सार्थक विवेचन परिलक्षित है। वर्तमान परिवेश में विभिन्न सामाजिक व धार्मिक संगठनों द्वारा समाज और राष्ट्र के अभ्युदय में तथा मानव कल्याणार्थ उत्तम आहार के प्रति जो जागरण पैदा किया जा रहा है उस दिशा में प्रस्तुत कृति में पं. आशाधरजी भक्ष्य-अभक्ष्य विषयक जो चिन्तन दिया है वह निश्चयेन सम-सामयिक व महत्त्वपूर्ण है।'

'पण्डितप्रवर आशाधर ने सम्वत् 1300 में 'धर्मामृत' ग्रंथ की रचना पूर्ण की। यह उनकी विद्वत्तापूर्ण कृति है जिसके कारण उन्हें 'आचार्यकल्प' के रूप में अभिहित किया

गया। 'धर्मामृत' के दो भाग हैं - प्रथम भाग का नाम 'अनगार धर्मामृत' है और द्वितीय भाग का नाम 'सागार धर्मामृत' है। यह संस्कृत भाषा की पद्य रचना है। ग्रंथकार ने इसकी स्वयं ही भव्यकुमुद चन्द्रिका टीका और ज्ञानदीपिका नामक पंजिका लिखी।' 'अनगार धर्मामृत में साधु के एवं सागार धर्मामृत में गृहस्थों के स्वरूप और उनकी अन्तर-बाह्य चर्या पर विस्तृत प्रकाश डाला है।'

'कहना न होगा कि पं. आशाधर का वैदुष्य विस्मयकारी है। विषय-प्रतिपादन एवं तत्सम्बन्धी भाषा-भणिति पर भी उनका समान और असाधारण अधिकार परिलक्षित होता है।'

'वे संस्कृत के आकर-ग्रन्थों के साथ ही टीका-ग्रन्थों के निर्माताओं की परम्परा में पांक्तेय ही नहीं, अग्रणी भी हैं। भाषा उनकी वशंवदा रही, तभी तो उन्होंने इसे अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न भंगियों में नचाया है। वे संस्कृत भाषा के अपरिमित शब्द भण्डार के अधिपति रहे, साथ ही शब्दों के कुशल प्रयोक्ता भी। उनकी प्रयोगभंगी को न समझ पानेवालों के लिए उनकी भाषा क्लिष्ट हो सकती है किन्तु भाषाभिज्ञों के लिए तो वह मोद तरंगिणी है।'

'समग्रतः पण्डितप्रवर आशाधर अनेक विषयों के विद्वान होने के साथ-साथ असाधारण कवि थे। उनका व्यक्तित्व इतना सरल और सहज था जिससे तत्कालीन मुनि और भट्टारक भी उनका शिष्यत्व स्वीकारने में गौरव का अनुभव करते थे। उनकी लोकप्रियता की सूचना उनकी उपाधियाँ ही दे रही हैं। वस्तुतः प्रज्ञापुरुषोत्तम पण्डितप्रवर आशाधर का जैनदर्शन सम्बन्धी ज्ञान अगाध था। उनकी कृतियों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह प्रत्येक बात को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि पाठक पढ़ते-पढ़ते अध्यात्म रस में गोते लगाने लगता है। अध्यात्म का वर्णन प्रायः नीरस होता है पर पण्डितजी की यह महनीय विशेषता रही है कि वह काव्य-शक्ति के द्वारा नीरस विषय को भी सरस बनाकर प्रस्तुत करते हैं। निश्चय और व्यवहार का निरूपण वे जिस सशक्त शैली में करते हैं उससे उनका गम्भीर पाण्डित्य तो झलकता ही है, साथ ही विषय पर पूर्ण अधिकार भी उजागर होता है। प्रज्ञापुरुषोत्तम पण्डितप्रवर आशाधर अध्यात्मजगत के एक दिव्य नक्षत्र थे जिनकी दीप्रप्रभा से आज भी आलोक विकीर्ण है।'

जैनविद्या पत्रिका का यह 22-23वाँ अंक 'आशाधर विशेषांक' के रूप में प्रकाशित है। हम उन विद्वान लेखकों के आभारी हैं जिनकी रचनाओं ने इस अंक का कलेवर बनाया।

संस्थान समिति सम्पादक मण्डल, सहयोगी सम्पादक एवं सहयोगी कार्यकत्ताओं के प्रति आभारी है। मुद्रण हेतु जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि. धन्यवादार्ह है।

डॉ. कमलचन्द सोगाणी

कलि-कालिदास : पं. आशाधर

— डॉ. जैनमति जैन

■

भारतीय साहित्य के क्षेत्र में 'कालिदास' महान प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। पं. आशाधर को भी उनके प्रशंसकों ने उन्हें 'कलि-कालिदास' कहा है। कलि-कालिदास कहने का औचित्य क्या है? कवि कुलगुरु कालिदास ने साहित्य-साधना और प्रतिभा के बल पर अनेक महाकाव्यों, नाटकों और खण्ड काव्यों की प्रौढ़ संस्कृत भाषा में सृजना कर भारतीय वाङ्मय के विकास में महान योगदान दिया है। क्या ईसा की 13वीं शताब्दी के आचार्य पं. आशाधर ने कवि कालिदास के समान साहित्य-सृजना की? कलि-कालिदास कहने का तात्पर्य यही है कि पं. आशाधर ई. पूर्व प्रथम शताब्दी में होने वाले कालिदास के समान अपूर्व प्रतिभावान और काव्य की सभी विद्याओं पर लेखनी चलाने के धनी थे तथा उनका आदर्श जीवन अनुकरणीय था। ऊहापोहपूर्वक सिद्ध किया जाएगा कि पं. आशाधर कलि-कालिदास थे या नहीं? क्योंकि आजकल भक्त निर्गुण को भी 'कलिकालसर्वज्ञ', 'आचार्यकल्प' आदि उपाधियों से विभूषित करने लगे हैं।

सागार धर्मागृत के लेखक पं. आशाधर महान अध्ययनशील थे। उनके विशद एवं गम्भीर अध्ययन का ही प्रसाद है कि वे विभिन्न विषयों - जैन-आचार, अध्यात्म, दर्शन, साहित्य, काव्य, कोष, आयुर्वेद आदि सभी विषयों के प्रकाण्ड पंडित के रूप में विश्रुत हो सके। कोई गृहस्थ उनके समान ख्यातिप्राप्त प्रतिष्ठित विद्वान नहीं हुआ है। पं. कैलाशचन्द शास्त्री

के शब्दों में - "आशाधर अपने समय के बहुश्रुत विद्वान थे। न्याय, व्याकरण, काव्य, साहित्य, कोश, वैद्यक, धर्मशास्त्र, अध्यात्म, पुराण आदि विषयों पर उन्होंने रचना की है। सभी विषयों पर उनकी अस्खलित गति थी और तत्त्वसम्बन्धी तत्कालीन साहित्य से वे सुपरिचित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका समस्त जीवन विद्या-व्यसन में ही बीता था और वे बड़े ही विद्यारसिक और ज्ञानघन थे।" आचार्य जिनसेन ने अपनी जयधवला टीका की प्रशस्ति में अपने गुरु वीरसेन के सम्बन्ध में लिखा है कि उन्होंने चिरन्तन पुस्तकों का गुरुत्व करते हुए पूर्व के सब पुस्तक-शिष्यों को छोड़ दिया था अर्थात् चिरन्तन शास्त्रों के वे पारगामी थे। पं. आशाधर भी पुस्तक-शिष्य कहलाने के सुयोग्य पात्र थे। उन्होंने अपने समय में उपलब्ध जैन पुस्तकों को आत्मसात कर लिया था[1]।

'जैन साहित्य और इतिहास' में पं. नाथूराम प्रेमी[2] ने भी उपर्युक्त प्रकार से विचारं प्रकट किए हैं।

प्रभावी व्यक्तित्व

पं. आशाधर बहुमुखी प्रतिभा के धनी एवं असाधारण कवि थे। उनका व्यक्तित्व सरल और सहज होने के कारण उनके मित्रों के अलावा मुनि और भट्टारक भी उनके प्रशंसक थे। उन्होंने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर गौरव का अनुभव किया था। उनकी अपूर्व एवं विलक्षण प्रतिभा ने विद्वानों को चकित-स्तम्भित कर दिया था। राजा विन्ध्यवर्मा के सन्धि-वैग्रहिक मंत्री एवं महाकवि विल्हण ने आशाधर की विद्वत्ता पर मोहित होकर कहा था - "हे आशाधर! हे आर्य! तुम्हारे साथ मेरा स्वाभाविक सहोदरपना है और श्रेष्ठपना है क्योंकि तुम जिस तरह सरस्वतिपुत्र हो उसी तरह मैं भी हूँ[3]।"

उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि आशाधर कोई सामान्य पुरुष नहीं थे। इनके अपरिमित ज्ञान को देखकर श्री मदनकीर्ति मुनि ने उन्हें प्रज्ञा पुंज (ज्ञान के भण्डार) कहा है[4]। इसी प्रकार उनके गुरुत्व से प्रभावित एवं आकर्षित होकर अनेक मुनियों एवं विद्वानों ने उन्हें अनेक उपाधियों से विभूषित किया है। मुनि उदयसेन ने पं. आशाधर को 'नय विश्वचक्षु' और 'कलि कालिदास' कहकर अभिनन्दन किया[5]। भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने आशाधर को 'सूरि', 'सम्यग्धारियों में शिरोमणि' आदि कहा है। उत्तरवर्ती विद्वानों ने पं. आशाधर को 'आचार्य कल्प' कहा है[6]। इसी प्रकार अनेक मुनिगणों ने उनका यशोगुणगान किया है। यद्यपि पं. आशाधर गृहस्थ विद्वान थे, लेकिन उन्हें निर्विकल्प अनुभूति हुई थी[7]। पूर्व परम्परा के सम्यक अध्येता पं. आशाधर की विद्वत्ता पर जैनेतर विद्वान भी मुग्ध थे। उन्होंने 'अष्टांगहृदय' जैसे महत्वपूर्ण आयुर्वेद ग्रन्थ पर टीका लिखी। काव्यालंकार और अमरकोश की टीकाएँ भी उनकी विद्वत्ता की परिचायक हैं।

पं. आशाधर का जीवनवृत्त

पं. आशाधर उन विद्वानों में से नहीं हैं जो अपने सम्बन्ध में चुप रहते हैं अर्थात् कुछ भी नहीं लिखते हैं। यह परम सौभाग्य की बात है कि पं. आशाधर ने 'जिन यज्ञकल्प',

'सागार धर्मामृत' और 'अनागार धर्मामृत' नामक ग्रन्थों की प्रशस्तियों में अपनी जन्मभूमि, जन्मकाल, माता-पिता, विद्या-भूमि, कर्मभूमि आदि के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी दी। इन्हीं प्रशस्तियों के आधार पर उनका जीवन-वृत्त प्रस्तुत करना समुचित है -

जन्मभूमि - पं. आशाधर की जन्मभूमि के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है। प्रशस्ति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि शांकभरी (सांभरझील) के भूषणरूप सपादलक्षदेश के अन्तर्गत मण्डलकर दुर्ग (मेवाड़) नामक देश अर्थात् स्थान को पं. आशाधर ने पवित्र किया था[8]। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वर्तमान में राजस्थान का माण्डलगढ़ (दुर्ग) जिला भीलवाड़ा में पं. आशाधर का जन्म हुआ था।

माता-पिता एवं वंश - 'सागार धर्मामृत' की प्रशस्ति में उल्लेख मिलता है कि जैनधर्म में श्रद्धालु भक्त सल्लक्षण पं. आशाधर के पिता थे और माता का नाम श्री रत्नी था[9]। पं. आशाधर के पिता को राजाश्रय प्राप्त था। पं. आशाधरजी का जन्म राजपूताने की प्रसिद्ध वैश्य जाति व्याघ्रेरवाल या वघेरवाल जाति में हुआ था[10]।

पारिवारिक स्थिति - पं. आशाधर का विवाह हुआ था। अत्यधिक सुशील एवं सुशिक्षित सरस्वति नामक महिला को पं. आशाधर की पत्नी होने का सौभाग्य मिला था। इनके छाहड़ नामक एक पुत्र था, जिसने अपने गुणों के द्वारा मालवा के राजा अर्जुन वर्मा को प्रसन्न किया था[11]। पंडित नाथूराम प्रेमी[12] के मतानुसार सल्लक्षण के समान इनके बेटे छाहड़ को अर्जुन वर्मा देव ने कोई राज्यपद दिया होगा, क्योंकि अक्सर राजकर्मचारियों के वंशजों को परम्परा से राजकार्य मिलते रहते हैं। उपर्युक्त उल्लेख से सिद्ध होता है कि पं. आशाधर का कुल सुसंस्कृत राजमान्य था।

भाई-बन्धु - उपलब्ध प्रशस्ति में यह उल्लेख नहीं मिलता है कि पं. आशाधर के कोई बन्धु था। पं. प्रेमचन्द डोणगांवकर 'न्यायतीर्थ' के अनुसार इनके वाशाधर नामक बन्धु होने का दो जगह उल्लेख हुआ है। वाशाधर ने 1239 में भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के उपदेश से काष्ठासंघ में प्रवेश किया था[13]।

शिक्षा एवं गुरु परम्परा - पं. आशाधर की प्रारम्भिक शिक्षा कहाँ हुई इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इनका बचपन माण्डलगढ़ में बीता था। संभव है यहीं पर इन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा पाई हो। वि.सं. 1249 में जब आशाधर 19 वर्ष के हुए तो उस समय मुसलमान राजा शहाबुद्दीन द्वारा सपादलक्ष देश पर आक्रमण किया गया था और वहाँ उसका राज्य हो गया था। इसके राज्य में जैन यतियों पर उपद्रव होने लगा था। जैन धर्मानुसार आचरण करना कठिन हो गया था। जैन धर्म पर आघात होने और उसकी क्षति होने के कारण ये अपना जन्म-स्थान छोड़कर सपरिवार मालवा माण्डल की धारापुरी नामक नगरी में आ गए थे। उस समय वहाँ विंध्य वर्मा राजा थे। यहीं पर रहकर आशाधर ने वादिराज के शिष्य पं. धरसेन और इनके शिष्य पं. महावीर से जैन धर्म-न्याय और जैनेन्द्र व्याकरण पढ़ा था[14]।

कर्मभूमि - अपनी विद्या-भूमि धारानगरी में पं. आशाधर जैन एवं जैनेतर समस्त साहित्य का अध्ययन कर बहुश्रुत हो गए थे। इसके पश्चात् धारा को छोड़कर नालछा आ गए। आखिर क्यों? यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उस समय 'धारानगरी' काशी की तरह विद्या का केन्द्र थी। पं. नाथूराम प्रेमी[15] का कहना है कि उस नगरी के सभी राजा - भोजदेव, विन्ध्य वर्मा, अर्जुन वर्मा केवल विद्वान ही न थे बल्कि विद्वानों का सम्मान भी करते थे। 'पारिजात मञ्जरी' में महाकवि मदन ने लिखा है कि धारानगरी को चौरासी चौराहे पर विभिन्न दिशाओं से आनेवाले विभिन्न विषयों के विद्वानों, पंडितों और कला-कोविदों की भीड़ रहती थी। वहाँ की 'शारदा-सदन विद्यापीठ' की ख्याति दूर-दूर तक व्याप्त थी। इस प्रकार की विद्यास्थली धारानगरी को छोड़ने का निर्णय करके नालछा (नलकच्छपुर) के लिए प्रस्थान करने का निर्णय आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। इनकी प्रशस्ति से उपर्युक्त जिज्ञासा का समाधान हो जाता है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि जैन शासन की प्रभावना (धर्माराधना, पठन-पाठन) के लिए उन्होंने धारानगरी छोड़ी। नालछा उस समय जैन धर्म से सम्पन्न श्रावकों से व्याप्त था। अर्जुन वर्मा का राज था। अतः धारा से दस कोश की दूरी पर स्थित नालछा नगर को इन्होंने अपनी कर्मभूमि बनाया[16]। वे नालछा में लगभग 35 वर्षों तक रहे। यहाँ के नेमिचैत्यालय में जैन शास्त्रों का पठन-पाठन, साहित्य-सृजना आदि करते हुए जैन धर्म की प्रभावना की।

शिष्य-सम्पदा - पं. आशाधर की शिष्य-सम्पदा प्रचुर थी। इनके विद्याभ्यास समाप्त होते-होते इनकी विद्वत्ता की कीर्ति चतुर्दिक व्याप्त हो गई थी। इनकी अभूतपूर्व प्रतिभा ने श्रावकों के अतिरिक्त अनेक मुनियों और जैनेतरों को आकर्षित किया था। अपने शिष्यों को ऐसा ज्ञान कराया कि व्याकरण, काव्य, न्यायशास्त्र और धर्मशास्त्र में उन्हें कोई विपक्षी जीत नहीं सकता था। प्रशस्ति में उन्होंने स्वयं कहा है - ''सुश्रूषा करनेवाले शिष्यों में ऐसे कौन हैं जिन्हें आशाधर ने व्याकरणरूपी समुद्र के पार शीघ्र ही न पहुँचा दिया हो। ऐसे कौन हैं जिन्होंने आशाधर के षटदर्शनरूपी परमशास्त्र को लेकर अपने प्रतिवादियों को न जीता हो, आशाधर से निर्मल जिनवाणीरूपी दीपक ग्रहण करके जो मोक्ष-मार्ग में प्रबुद्ध न हुए हो और ऐसा कौन है जिसने आशाधर से काव्यामृत का पान करके उससे पुरुषों में प्रतिष्ठा न प्राप्त की हो[17]?'' उपर्युक्त कथन से सिद्ध है कि उनके शिष्य उन्हीं के समान अपने-अपने विषय के निष्णात विद्वान थे। उनके शिष्यों में निम्नांकित शिष्य प्रमुख एवं उल्लेखनीय हैं[18]-

पं. देवचन्द्र - इन्हें आशाधर ने व्याकरण शास्त्र में निष्णात विद्वान बनाया था।

वादीन्द्र, विशालकीर्ति आदि - इन्हें षडदर्शन एवं न्यायशास्त्र पढ़ाकर विपक्षियों को जीतने में समर्थ ज्ञाता बनाया। चतुर्दिक के वादियों को जीतकर इन्होंने महाप्रमाणिक चूड़ामणि की उपाधि प्राप्त की थी[19]।

भट्टारक देवचन्द्र, विनयचन्द्र आदि - इन्हें पं. आशाधर ने धर्मशास्त्र (सिद्धान्त) का अध्ययन कराया था। इसी अध्ययन के प्रभाव से वे मोक्षमार्ग की ओर उन्मुख हुए थे[20]।

महाकवि मदनोपाध्याय आदि : इनको काव्यशास्त्र का अध्ययन करा रसिकजनों से प्रतिष्ठा प्राप्त करने का अधिकारी बनाया था। इसके अतिरिक्त मुनि उदयसेन एवं कवि अर्हददास को भी इनके शिष्य होने का उल्लेख विद्वानों ने किया है।

पं. आशाधर का समय

पं. आशाधर का जन्म समय विवादग्रस्त नहीं है। इसका कारण यह है कि उन्होंने स्वयं अपनी रचनाओं की तिथियों का उल्लेख किया है। अत: उनकी कृतियों का विश्लेषण करना अनिवार्य है।

प्रशस्तियों का आधार - पं. आशाधर के तीन ग्रन्थों में उनके द्वारा लिखी गई प्रशस्ति उपलब्ध है। 'जिन यज्ञकल्प' प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ वि.सं. 1285 में समाप्त हुआ था। इसमें जिन ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है। वे निश्चित रूप से वि.सं. 1285 में रचे गए थे। अनगार धर्मामृत टीका वि.सं. 1300 में पूरी हुई थी[21]। अत: सिद्ध है कि इनका जन्म वि.सं. 1300 के पहले अवश्य हुआ होगा। डॉ. नेमिचन्द शास्त्री का अनुमान है कि वि.सं. 1300 को उनकी आयु 65-70 वर्ष रही होगी। इसलिए इनका जन्म वि.सं. 1230-35 के लगभग हुआ होगा[22]। दूसरी बात है कि वि. सं. 1248-49 में वे माण्डलगढ़ से मालवा की धारा नगरी में आए थे। उस समय उनकी आयु 20 वर्ष की थी। इससे सिद्ध होता है कि उनका जन्म वि.सं. 1228-29 में हुआ होगा[23]। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि जब वे धारा नगरी आए उस समय विन्ध्यवर्मा का राज था। विन्ध्यवर्मा का समय वि.सं. 1217-1237 माना गया है[24]। अत: सिद्ध है कि वि. की तेरहवीं शताब्दी में उनका जन्म हुआ होगा।

पं नाथूराम प्रेमी ने लिखा है कि पं. आशाधर 35 वर्षों तक नालछा में रहे[25]। 20 वर्ष की अवस्था में उन्होंने व्याकरण का अध्ययन किया होगा और इसके बाद वे नालछा में आकर साहित्य-सृजन करने लगे होंगे। पहली रचना उन्होंने 20 वर्ष की अवस्था में की होगी। अत: 35+30=65 वर्ष उनकी आयु सिद्ध होती है। जिनयज्ञ कल्प वि.सं. 1285 में से 65 घटाने पर उनका जन्म वि.सं. 1230 सिद्ध होता है[26]।

2. अर्जुन वर्मा देव के वि.सं. 1267, 1260 और 1262 के दान-पात्र मिले हैं। इससे निष्कर्ष निकलता है कि अर्जुन वर्मा देव वि.सं. 1265 में अवश्य थे। धारा में पं. आशाधर ने 25-26 वर्ष की आयु में अध्ययन समाप्त किया होगा। अध्ययन समाप्त करके वे राजा अर्जुनदेव के राजकाल में नालछा चले गए थे। अत: इनका जन्मकाल वि.सं. 1230-1228 सिद्ध होता है।

3. वि. सं. 1376 में रचित जिनेन्द्र कल्याणभ्युदय में कवि अम्भपार्य ने अन्य जैन आचार्यों के साथ पं. आशाधर का उल्लेख किया है[27]। अत: पं. आशाधर का जन्म विक्रम

संवत् की 13वीं शती में हुआ होगा। मेरे इस कथन की पुष्टि पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं. नाथूराम प्रेमी, पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री, शान्तिकुमार ठवली प्रभृति विद्वानें की मान्यता से होती है[28]।

कृतियाँ

पं. आशाधर ने धारा नगरी छोड़कर नालछा आने के पश्चात् साहित्य-सृजन कार्य आरम्भ किया। कृतियों की रचना, साहित्य सेवा, जिनवाणी की सेवा एवं उपासना को जीवन का केन्द्र बनाया। आशाधर का अध्ययन अगाध और अभूतपूर्व था। यही कारण है कि उन्होंने संस्कृत भाषा में न्याय, व्याकरण, काव्य, अलंकार, अध्यात्म, पुराण, शब्दकोश, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र वैद्यक (आयुर्वेद), ज्योतिष आदि विषयों से सम्बन्धित विपुल ग्रन्थों की रचना कर जैनवाङ्मय को समृद्ध करने में अभूतपूर्व योगदान किया। शान्तिकुमार ठवली के अनुसार आशाधर ने 108 ग्रन्थों की रचना की थी। वे लिखते हैं कि "उनकी एक सौ आठ रचनाओं का पता चला है। और भी न मालूम कितनी रचनाएँ नष्ट व अज्ञात रही हैं। ज्ञात रचनाओं में प्रथमानुयोग की 11, करणानुयोग की 4, चरणानुयोग की 11, द्रव्यानुयोग की 8 विशेष हैं तथा पूजन, विधान, भक्ति, प्रतिष्ठा टीका आदि 70 ग्रन्थ उपलब्ध हैं और अष्टांगहृदय संहिता, शब्द त्रिवेणी, जैनेन्द्र प्रवृत्ति, काव्यालंकार टीका आदि का उल्लेख तथा पता भी मिलता है[29]।"

लेकिन ठवली ने अपने कथन में किसी प्रमाण का उल्लेख नहीं किया है। पं. आशाधर ने जिनयज्ञकल्प, सागार धर्मामृत टीका और अनागार धर्मामृत टीका की प्रशस्तियों में अपने ग्रन्थों का उल्लेख किया है तथानुसार उनके द्वारा रचित ग्रन्थ निम्नांकित हैं -

(अ) जिनयज्ञकल्प की प्रशस्ति में उल्लिखित ग्रन्थ - जिनयज्ञकल्प[30] की प्रशस्ति के अनुसार यह ग्रन्थ वि.सं. 1285 में पूरा हुआ था। इसमें इसके पूर्व में लिखे गए ग्रन्थों का उल्लेख है कि जो निम्नांकित हैं -

1. प्रमेयरत्नाकर - पं. आशाधर ने स्याद्वाद विद्या का विशद प्रसाद कहा है। यह तर्कशास्त्र-विषयक ग्रन्थ है। इसकी रचना पद्यों में की गई थी। पं. आशाधर ने कहा है कि इसमें निर्दोष विद्यामृत का प्रवाह बहता है। यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। इसकी प्रति सोनागिरी में होने का उल्लेख विद्वानों ने किया है।[31]

2. भरतेश्वराभ्युदय काव्य - इसे आशाधर ने सिध्यंक भी कहा है; क्योंकि इसके प्रत्येक सर्ग के अन्तिमवृत में 'सिद्धि' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस सत्काव्य में भरत चक्रवर्ती के जीवनवृत्त विशेषकर मोक्ष-प्राप्ति का वर्णन रहा होगा। क्योंकि यह काव्य अध्यात्मरस से युक्त था। प्रस्तावना से यह भी ज्ञात होता है कि कवि ने इसकी रचना अपने कल्याण के लिए की थी। इस पर उन्होंने टीका भी की थी। दुर्भाग्य से आज वह उपलब्ध नहीं है। इसकी पाण्डुलिपि सोनागिरि में मौजूद है।

3. धर्मामृत - धर्मामृत की रचना अनगार और सागार इन दो भागों में हुई है। अनगार धर्मामृत में मुनि धर्म का वर्णन करते हुए मुनियों के मूल और उत्तर गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसमें 9 अध्याय हैं। पहले अध्याय में 114 श्लोकों के द्वारा धर्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है; दूसरे अध्याय में 114 श्लोकों के द्वारा सम्यक्त्वोत्पादनादिक्रम का; ज्ञानाराधना नामक तीसरे अध्याय में 24 श्लोकों में ज्ञान के स्वरूपादिक का, चतुर्थ अध्याय में 183 श्लोकों में चारित्राराधन का वर्णन; पिण्डशुद्धि नामक पाँचवें अध्याय में 69 श्लोकों में भोजन सम्बन्धी दोषों का विस्तार से निरूपण कर के साधु को निर्दोष भोजन करने योग्य बतलाया गया है। छठे अध्याय में एक सौ बारह श्लोक हैं, इसका नाम मार्ग महोयोग है। तपाराधना नामक सातवें अध्याय में 104 श्लोक द्वारा 12 तपों का वर्णन है। आठवें अध्याय का नाम आवश्यक निर्युक्ति है। इसमें 134 श्लोकों में साधु के छह अवश्यक - सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग का वर्णन है। नौवें अध्याय में नित्यनैमित्तिक क्रियाओं का वर्णन 100 श्लोकों में हुआ है। इसप्रकार इसमें कुल 654 श्लोक हैं।

सागार धर्मामृत - गृहस्थधर्म का निरूपण आठ अध्यायों में हुआ है। इसका विस्तृत विवेचन आगे करेंगे[32]।

4. अष्टांग हृदयोद्योत - 'वाग्भटसंहिता' अष्टांग हृदय नामक आयुर्वेद ग्रन्थ जिसकी रचना 'वाग्भट' ने की थी, को व्यक्त करने के लिए आशाधर ने अष्टांग हृदयोद्योत नामक टीका लिखी थी[33]। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

5. मूलाराधना टीका - आचार्य शिवकोटि की कृति 'भगवतीआराधना' नामक ग्रन्थ पर आशाधर ने संस्कृत में 'मूलाआराधना दर्पण' नामक टीका लिखी थी[34] इस टीका के अतिरिक्त एक टिप्पणी और प्राकृत टीका तथा 'प्राकृत पंचसंग्रह' ग्रन्थ भी लिखे थे।

6. इष्टोपदेश टीका - पूज्यपादाचार्य द्वारा रचित इष्टोपदेश पर आशाधर ने संस्कृत में टीका लिखी थी[35]। आशाधर ने विभिन्न ग्रन्थों से श्लोकों को उद्धृत कर ग्रन्थ का हार्द समझाने का प्रयास किया है।

इसका पहलीबार प्रकाशन माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, मुम्बई से 'तत्त्वानुशासनादि संग्रह' में हुआ था। इसके बाद सन् 1955 में वीर सेवा मन्दिर सोसाइटी, दिल्ली से ग्रन्थाङ्क 11 के रूप में हिन्दी टीका सहित हुआ। इसके सम्पादक जुगलकिशोर मुख्तार हैं।

7. अमरकोष टीका[36] - यह अनुपलब्ध है।

8. क्रिया कलाप - इसकी हस्तलिखित पाण्डुलिपि पन्नालाल सरस्वती भवन, मुम्बई में हैं।

9. आराधनासार टीका[37] - यह उत्कृष्ट कृति भी अप्राप्त है। जयपुर में इसकी हस्तलिखित प्रति मौजूद है।

10. भूपाल चतुर्विंशतिका टीका - यह अप्रकाशित है।

11. काव्यालङ्कार - रुद्रट के काव्यालंकार पर आशाधर ने संस्कृत में टीका लिखी थी जो अनुपलब्ध है[38]।

12. जिनसहस्रनामस्तवन सटीक[39] - इस ग्रन्थ पर श्रुतसागर सूरि ने टीका रची है। इसी टीकासहित यह ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी और माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला सोलापुर से प्रकाशित है।

13. नित्यमहोद्योत[40] - इसमें भगवान अर्हन्त के महाभिषेक से सम्बन्धित स्नान आदि का वर्णन है। इस पर श्रुतसागर सूरि की टीका भी है। इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली से जिनसहस्र नाम सटीक और बनजीलाल जैन ग्रन्थमाला से अभिषेक पाठ संग्रह में श्रुतसागरी टीका सहित हो चुका है[41]।

14. रत्नत्रय विधान[42] - यह अभी तक अप्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित पाण्डुलिपि मुम्बई के सरस्वती भवन में है। इसमें रत्नत्रय पूजा का माहात्म्य वर्णित है।

15. जिनयज्ञकल्प[43] - प्रशस्ति में बतलाया गया है कि नलकच्छपुर के निवासी खण्डेलवाल वंश के अल्हण के पुत्र पापासाहु के आग्रह से वि.सं. 1285 में अश्विन शुक्ल पूर्णिमा को प्रभारवंश के भूषण देवपाल राजा के राज्य में नलकच्छपुर में नेमिनाथ जिनालय में यह ग्रन्थ रचा गया था। यह युग-अनुरूप प्रतिष्ठाशास्त्र था। इसका प्रकाशन जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय से सं. 1974 में प्रतिष्ठा सारोद्धार के नाम से हुआ था। इसमें हिन्दी टीका भी है। इसके अन्त में प्रशस्ति है जिसमें वि.सं. 1285 तक रचित उपर्युक्त ग्रन्थों का नामांकन हुआ है। इसमें छः अध्याय हैं।

16. जिनयज्ञकल्पदीपक सटीक[44] - इसकी एक प्रति जयपुर में होने का उल्लेख पं. नाथूराम प्रेमी ने किया है[45]।

17. त्रिषष्टि स्मृति शास्त्र सटीक[46] - इसके नाम से ही सिद्ध होता है कि इसमें त्रेषठ शलाका पुरुषों का वर्णन है। इसका प्रकाशन मराठी भाषा टीकासहित सन् 1937 में माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर से 37वें पुष्प के रूप में हो चुका है। आशाधर ने प्रशस्ति के भाष्य में लिखा है कि आर्ष महापुराणों के आधार पर शलाका पुरुषों के जीवन का वर्णन किया है। उन्होंने त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र पर स्वोपज्ञ टीका भी रची थी। इन्होंने इस ग्रन्थ को वि.सं. 1262 में नलकच्छपुर में राजा देवपाल के पुत्र जैतुंगिदेव के अवन्ती में राज्य करते समय रचा था[47]।

18. सागार धर्मामृत टीका[48] - इस भव्यकुमुदचन्द्रिका नामक सागार धर्मामृत की टीका की रचना वि.सं. 1296 में पूष वदी सप्तमी के दिन नलकच्छपुर के नेमिनाथ चैत्यालय में हुई थी[49]। इस ग्रन्थ के निर्माणकाल के समय परमारवंश को बढ़ानेवाले

देवपाल राजा के पुत्र श्रीमत् जैतुंगिदेव अवन्तिका में राज्य करते थे[50]। प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि पोरवाड्वंश के समृद्ध सेठ (श्रेष्ठि) के पुत्र महीचन्द्र साहू के अनुरोध किए जाने पर श्रावक धर्म के लिए टीपकरूप इस ग्रन्थ की रचना की थी। उन्हीं महीचन्द्र साहू ने सर्वप्रथम इसकी प्रथम पुस्तक लिखी थी[51]। इसके अन्त में 24 श्लोकों की प्रशस्ति भी उपलब्ध है। यह टीका वि.सं. 1972 में मणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, मुम्बई से दूसरे पुष्प के रूप में प्रकाशित हुई थी। इसके पश्चात् जैन साहित्य प्रसार कार्यालय, गिरगांव, मुम्बई से वीर नि.सं. 2454, सन् 1928 में प्रकाशित हुई।

(ब) अनगार धर्मामृत टीका में उल्लिखित ग्रन्थ - वि.सं. 1300 में सम्पन्न इस अनगार टीका में उपर्युक्त ग्रन्थों के अलावा वि.सं. 1296 में रचित ग्रन्थों का उल्लेख हुआ जो निम्नांकित हैं-

19. राजीमती विप्रलम्भ - यह ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। आशाधर ने लिखा है कि यह एक खण्डकाव्य है जिसमें नेमिनाथ और राजुल के वैराग्य का वर्णन हुआ है। इस पर कवि ने स्वोपज्ञ टीका भी लिखी थी[52]। इसकी रचना वि.सं. 1296-1300 के बीच में कभी हुई थी, क्योंकि इसका उल्लेख इससे पूर्व में रचित प्रशस्ति मे नहीं हुआ है।

20. अध्यात्म रहस्य - पं. आशाधर ने अपने पिता के आदेश से इस प्रशस्त और गम्भीर ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ योग का अभ्यास प्रारम्भ करनेवालों के लिए बहुत प्रिय था[53]। इसका दूसरा नाम योगोद्दीपन-शास्त्र भी मिलता है[54]। यह ग्रन्थ वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली से वि.सं. 2014 सन् 1957 में जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' का हिन्दी अनुवाद और व्याख्यासहित प्रकाशित हो चुका है। पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से सन् 1977 में प्रकाशित धर्मामृत (अनागार) की प्रस्तावना (पृ. 55) में इसे अप्राप्त लिखा है। इसी प्रकार बघेरवाल सन्देश[56] की प्रस्तावना में डॉ. मानमल जैन ने भी इस ग्रन्थ को अप्राप्त लिखा है, जो सत्य नहीं हैं।

इस ग्रन्थ में 72 पद्य हैं। इसका विषय अध्यात्म (योग) से सम्बन्धित है, आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध का मार्मिक विवेचन है।

21. अनगार धर्मामृत टीका - इस ग्रन्थ की रचना वि.सं. 1300 में नलकच्छ के नेमि जिनालय में देवपाल राजा के पुत्र जैतुंगिदेव अवन्ति (मालवा) के राजा के समय में हुई थी[57]। अनुष्टुपछन्द में रचित ग्रन्थ कार्तिक सुदि पंचमी, सोमवार को पूरा हुआ था। इस ग्रन्थ का परिमाण 12200 श्लोक के बराबर है[58]। यतिधर्म को प्रकाशित करनेवाली और मुनियों को प्रिय इस ग्रन्थ की रचना आशाधर ने की थी[59]। इसकी प्रशस्ति में कहा गया है कि खंडिल्यन्वय के परोपकारी युगों से युक्त एवं पापों से रहित जिस पापा साहु के अनुरोध से जिनयज्ञकल्प की रचना हुई थी, उसके तीन पुत्रों में से हरदेव ने प्रार्थना की कि मुग्धबुद्धियों को समझाने के लिए महीचन्द्र साह के अनुरोध से आपने जिस धर्मामृत

की रचना की है वह कुशाग्र बुद्धिवालों के लिए भी अत्यन्त दुर्बोध है। अतः इसकी भी टीका रचने की कृपा करें, तब आशाधर ने इसकी रचना की थी[61]।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अलावा आशाधर ने अन्य किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की। यदि उन्होंने अन्य ग्रन्थों की रचना की होती तो उनका वि.सं. 1300 में रचित अनगार में अवश्य उल्लेख होता। पं. नाथूराम प्रेमी, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं. जुगलकिशोर मुख्तार प्रभृति विद्वानों ने भी आशाधर के उपर्युक्त ग्रन्थों के अलावा अन्य ग्रन्थों का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु डॉ. मानमल जैन सेठिया ने[62] उपर्युक्त ग्रन्थों के अलावा निम्नांकित ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए उन्हें अप्रकाशित बतलाया है -

1. **सिद्ध पूजा** - आभिनन्दन नाथ मन्दिर, बूँदी में इसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है।
2. **कल्याण मन्दिर स्तोत्र टीका** - जयपुर में हस्तलिखित पाण्डुलिपि रूप में है।
3. **सरस्वती स्तुति** - संभवनाथ मन्दिर, जयपुर में हस्तलिखित प्रति रखी है।
4. **पूजा विधान** - हस्तलिखित उपलब्ध है। अप्रकाशित है।
5. **जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय** - सरस्वती भवन, उज्जैन में हस्तलिखित मौजूद है।
6. **गंधकुटी पूजा** - सरस्वती भवन, उज्जैन में हस्तलिखित मौजूद है।
7. **विमान शुद्धि विधान** - भट्टारकीय भण्डार, सोनागिरी में हस्तलिखित है।
8. **कर्मदहन व्रत विधान** - दि. जैन मन्दिर बन्दहाडपुर हस्तलिखित विद्यमान है।
9. **स्वप्नावली** - मूडवद्री में हस्तलिखित प्रति है।
10. **सुप्रभात स्तोत्र** - मूडवद्री में हस्तलिखित प्रति है।
11. **चतुर्विंशति जिनपूजा** - मूडवद्री में हस्तलिखित प्रति है।
12. **सिद्धिप्रिय स्तोत्र टीका** - दीवानजी का मन्दिर, कामा में हस्तलिखित प्रति मौजूद है।
13. **रत्नत्रयव्रत कथा** - पाटोदी मन्दिर, जयपुर में हस्तलिखित प्रति है।
14. **जिन महाभिषेक** - बोरसली मन्दिर, कोटा में हस्तलिखित प्रति है।
15. **महावीर पुराण** - जयपुर में हस्तलिखित प्रति है।
16. **शान्ति पुराण** - लश्कर दिगम्बर जैन मन्दिर, जयपुर में हस्तलिखित प्रति है।
17. **देवशास्त्र पूजा** - आमेर में हस्तलिखित प्रति है।
18. **सोलहकारण पूजा** - चन्द्रनाथ मन्दिर देवलगाँव में हस्तलिखित प्रति है।

19. **सरस्वती अष्टक** - चन्द्रनाथ मन्दिर देवलगाँव में हस्तलिखित प्रति है।
20. **पादूका अष्टक** - चन्द्रनाथ मन्दिर देवलगाँव में हस्तलिखित प्रति है।
21. **दशलक्षणिक जयमाल** - चन्द्रनाथ मन्दिर देवलगाँव में हस्तलिखित प्रति है।
22. **वृतारोपण** - चन्द्रनाथ मन्दिर देवलगाँव में हस्तलिखित प्रति है।
23. **महर्षि स्तवन** - चन्द्रनाथ मन्दिर देवलगाँव में हस्तलिखित प्रति है।

इनमें पूर्वांकित भारतेश्वराभ्युदय काव्य (स्वोपज्ञ टीका), क्रियाकलाप, भूपाल चतुर्विंशतिका टीका, प्रमेयरत्नाकर और आराधनासार टीका को मिला दिया जाए तो पं. आशाधर के 28 ग्रन्थ अप्रकाशित हैं।

रचनाकाल - इस प्रकार स्पष्ट है कि पं. आशाधर ने धारा में 25 वर्ष की अवस्था में अध्ययन समाप्त करने के बाद नालक्षा में जाकर साहित्य सृजन करना आरम्भ कर दिया होगा। अतः शान्तिकुमार ठवली का यह कथन यथार्थ है कि आशाधर ने वि.सं. 1250 से 1300 (अर्द्धशतक) तक साहित्य-रचना की थी। विद्वानों का यह मत है कि उनका मुख्य रचनाकाल वि.सं. 1285, विक्रम की तेरहवीं शती का उत्तरार्द्ध ही था। आशाधर के व्यक्तित्व और कर्तृत्व के उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि आशाधर ने राजस्थान मेवाड़ के मांडलगढ़ को अपनी जन्मभूमि, धारानगरी को विद्याभूमि और नालछा को अपनी कर्मभूमि बनायी थी। उन्होंने अध्यापन, शास्त्रसभा, नित्य स्वाध्याय एवं साहित्य सृजन करके न केवल जैनधर्म और समाज को अपना योगदान दिया बल्कि राष्ट्र का गौरव बढ़ाया। आशाधर मुनि या योगी नहीं थे, लेकिन वे येगियों के मार्गदर्शक और उनके अध्यापक थे। आशाधर बहुश्रुत विद्वान थे। संस्कृत भाषा पर उनका पूरा अधिकार था, इसलिए उन्होंने संस्कृत भाषा में ग्रन्थों की रचना की थी। पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने कहा भी है - 'संस्कृत भाषा का शब्द भण्डार भी उनके पास अपरिमित है। और वे उसका प्रयोग करने में कुशल हैं। इसी से इनकी रचना क्लिष्ट हो गयी है। यदि उन्होंने उस पर टीका न रची होती तो उसको समझना संस्कृत के पंडित के लिए भी कठिन हो जाता। इनकी कृतियों की सबसे बड़ी बात दुरभिनिवेश का अभाव है।'

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि पण्डित आशाधर वास्तव में कलि कालीदास थे। उन्होंने धर्मामृत जैसे महाकाव्यों का सृजन किया। इनके ग्रन्थों की भाषा भी प्रौढ़ संस्कृत है। यह कहना सच है कि यदि उन्होंने अपनी ग्रन्थों पर टीकाओं की रचना न की होती तो उनको समझना कठिन हो जाता। विविध विषयों से सम्बन्धित 108 ग्रन्थों की रचना कर उन्होंने स्वयं अपने आपको कालिदास सिद्ध कर दिया।

1. धर्मामृत (अनगार), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली; सन् 1966 प्रस्तावना, सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द शास्त्री, पृ. 38।
2. बघेरवाल सन्देश, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन बघेरवाल संघ, कोटा, राजस्थान, वर्ष 28, अंक 5, मई 1963, पृ. 14।
3. इत्युपश्लोकितो विद्वद्विल्हणेन कवीशिना।
   श्री विन्ध्यभूपति महासन्धि विग्रहिकेण य॥
   आशाधरत्वं मयि विद्धि सिद्धि निसर्ग सौंदर्यमजर्यमार्य।
   सरस्वती पुत्रतया यदेतदर्थे परं वाच्यमय प्रपञ्च॥
   सागार धर्म, पं. आशाधर, जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, हीराबाग, गिरगांव, मुम्बई, वी.नि.सं. 2454, सन् 1928 ई.।
4. भव्यकुमुद चन्द्रिका टीका, प्रशस्ति श्लोक 6 एवं 94,
   प्रज्ञा पुञ्जोसीति च पांमिहितो मदन कीर्तिमति पतिवा।
   अनगार धर्मामृतम्, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, हीराबाग, मुम्बई, 14वाँ पुष्प, सं. - पं. बंशीधर शास्त्री, वी.नि.सं. 2445, सन् 1919, प्रशस्ति श्लोक 4।
5. नय विश्व चक्षुराषाधरो पिजयतां कलि कालिदास:।
   इत्युदससेनमुनिना कवि सुहृदा योभिनन्दित: प्रीत्या॥
   (क) सागार धर्मामृत, प्रशस्ति श्लोक 3 एवं 4
   (ख) अनगार धर्मामृत, श्लोक 3 एवं 4
6. डॉ. मानमल जैन (सेठिया), मुख्य सम्पादक, बघेरवाल सन्देश, वर्ष 28, अंक 5, मई 1993, प्रस्तावना, पृ.-(क)।
7. अनगार धर्मामृत, अध्याय 8, श्लोक 6।
8. श्री मानास्ति सपादलक्ष विषय: शाकंभरी भूषणस्तत्र श्री रतिधाम मण्डलकरं नामास्ति दुर्ग महंत।
   जिन यज्ञकल्प, जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय, वि.सं. 1968, सन् 1916।
9. श्री रत्यामुदमादि तत्र विमल व्याघ्रेवालान्वयाक्षणतो जिनेन्द्र समय श्रद्धालु आशाधर:।
   सागार धर्मामृत, भव्य कुमुदचन्द्रिका टीका, प्रशस्ति 1।
10. व्याघ्रेरवाल वरवंश सरोज हंस: काव्यामृतौ घरसपान सुप्रमात्र:। सल्लक्षणस्य तनयो॥
11. सरस्वत्या मिवात्मानं सरस्वत्याभजीजनत्।
    य: पुत्र छाइडं गुण्यं रञ्जितार्जन् भूपतिम्॥
    सागार धर्म, भव्य कुमुदचन्द्रिका टीका, प्रशस्ति।
12. बघेरवाल सन्देश, वर्ष 26, अंक 5, मई 1993, पृ. 16।
13. वही, अभीक्षण ज्ञानोपयोगी पं. आशाधरजी, पृ. 56।

14. म्लेच्छदेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत क्षति।
त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रहो: परिमल स्फूर्ज त्रिवगौजसि।
प्राप्त मालवमण्डले बहुपरिवार: पुरीभावसन्
यो धारामपढज्जिन प्रमिति वाकशास्त्रे महावीरात:। सा.ध.,टी.पृ.-5।

15. जैन साहित्य एवं इतिहास, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, मुम्बई, 1956।

16. श्रीमदर्जुन भूपाल राज्ये श्रावक संकुले।
जिन धर्मोदयार्थ यो मलकच्छपुरे वसंत्॥
अनगार धर्मामृत, भव्य चन्द्रिका टीका, प्रशस्ति श्लोक 7।

17. यो द्रग्व्याकरणब्धि पारमनयच्छुश्रूय माणान्नकान।
सत्तर्की परमास्त्रमाप्य न यत: प्रत्यर्थिन: केऽक्षिपन्।
चारु:केऽस्खलित न येन जिन वाग्दीपं पथि ग्रहिता:
पीत्वा काव्यसुधां यतश्च रसिकेष्वापु: प्रतिष्ठान के॥
सागार धर्म, प्रशस्ति 91, और भी देखें अनगार धर्मामृत टीका प्रशस्ति 91।

18. द्रष्टव्य प्रशस्ति श्लोक 9 का भाष्य।

19. जैन साहित्य एवं इतिहास, पं. नाथूराम।

20. के भट्टारकदेव विनय, चन्द्रादय जिनवाग अर्हत् प्रवचनम् मोक्षमार्गे स्वीकारिता:। प्रशस्ति 9 भाष्य।

21. नलकच्छपुरे श्री मन्नेमि चैत्यालयेऽसिधत्।
विक्रमाब्दशतेष्वेष त्रयोदशसु कार्तिके॥
अनगार धर्मामृत टीका, प्रशस्ति, श्लोक 31।

22. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, डॉ. नेमिचन्द शास्त्री, अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद, सागर, 1964, भाग 4, पृ. 43।

23. वही।

24. प्रज्ञापुंज आशाधर, पं. नाथूराम, बघेरवाल संदेश, अंक 28/15, पृ. 16।

25. वही, पृ. 15।

26. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 4, पृ. 44।

27. वीराचार्य सुपूज्यपाद जिनसेनाचार्य संभाषितोय: पूर्व गुणभद्रसूरि वसुनन्दीन्द्रादिनंद्यूर्जित तेभ्य: स्वाहृतसारमध्य रचित: स्याज्जैन पूजाक्रम:।
बघेरवाल संदेश, 25, 5 मई 1993, पृ. 9।

28. श्री पं. आशाधरजी और उनका सागार धर्मामृत, पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्री, व्याख्यान वाचस्पति देवकीनन्दन श्री सिद्धान्तशास्त्री ग्रन्थ, श्री महावीर ज्ञानोपासना समिति कारंजा, पृ. 189।

29. ज्योतिर्विद आशाधर, बघेरवाल सन्देश, 28/5, पृ. 53।
30. जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय सं. 1964 में हिन्दी टीका के साथ प्रकाशित।
31. (क) स्याद्वाद विद्या विशद प्रसादः प्रमेयरत्नाकरनाम धेयः।
तर्क प्रबन्धो निरवद्यविद्यापीयूष पूरो वहतिस्म यस्मात्॥
(ख) सिद्धयंकं भारतेश्वराभ्युसत्काव्यं निबन्धोज्जवलं।
यस्त्रैविद्य कवीन्द्र मोहनमयं स्वश्रेयसेऽरीरचत्।
(ग) योऽर्हद्वाक्यरसं निबन्धरुचिरं शास्त्रं च धर्मामृतं निर्माय न्यऽधान मुमु विदुषामानन्द सान्द्रे हृदि॥
32. (क) माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, मुम्बई के भव्य कुमुदचन्द्रिका टीका सहित, वि.सं. 1976, पं. बंशीधर शास्त्री द्वारा संपादित-प्रकाशित।
(ख) ज्ञानदीपिका संस्कृत पञ्जिका, हिन्दी अनुवादसहित भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, वि.सं. 2034, सन् 1977, सम्पादक एवं अनुवादक सि. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री।
33. आयुर्वेद विदामिष्टज्ञं व्यक्तं संहिताम्।
अष्टाङ्ग हृदयोदद्योत निबन्धमसृजञ्च यः॥
सागारधर्म प्रशस्ति, श्लोक 12
34. जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर सन् 1934 में प्रकाशित।
35. योमूलाराधनेष्टोपदेशदिषु निबन्धनम्, प्रशस्ति श्लोक 13।
36. व्यघतामर कोशै च क्रिया कलापुभुज्जगौ, प्रशस्ति श्लोक 13।
37. आदि अराधनासार, प्रशस्ति श्लोक 13।
38. भूपाल चतुर्विंशतिस्तवनाद्यर्थः। उज्जगौ उत्कृष्टं कृतवान। प्रशस्ति श्लोक 13।
39. रोद्रटस्य व्यघात् काव्यालडकारस्य निबन्धनम्। प्रशस्ति श्लोक 14।
40. सहस्त्रनामस्तवनं सनिबन्धं च योर्हताम॥ प्रशस्ति श्लोक 14।
41. योर्हन्महाभिषेकार्चाविधि मोहतमोरविम्।
चक्रे नित्यमहोद द्योतं स्नानशोस्त्रं जिनेशिनाम्॥ प्रशस्ति श्लोक 16।
42. रत्नत्रय विधानस्य पूजामहात्म्य वर्णनम्।
रत्नत्रय विधानाख्यं शास्त्रं वितनुतेस्म यः॥ वही श्लोक 1742।
43. अनागार धर्मामृत, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रस्तावना, पृ. 45।
44. सनिबन्धं यश्च जिनयज्ञ कल्पमरीरवत्।
सागार धर्म, प्रशस्ति 15।
45. जैन साहित्य एवं इतिहास।
46. त्रिषष्टि स्मृति शास्त्रं यो निबन्धालंकृतं व्यघात्।
सागार धर्म, प्रशस्ति श्लोक 15।
47. नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमि चैत्यालयेऽसिधत्।

ग्रन्थोऽयं द्विनवद्ध्येक विक्रमार्कसमाप्ययत।
त्रिषष्ठिस्मृति शास्त्र, प्रशस्ति श्लोक 13

48. सोऽहमाशाधरो रम्यामेता टीका व्यरीरचम्।
धर्मामृतोक्त सागारधर्माष्टाध्यायगोचराम्॥
सागार धर्मामृत, टीका, प्रशस्ति श्लोक 18

49. नलकच्छपुरे श्री मन्नेमिचैत्यालये सिधत्।
टीकेयं भव्यकुमुद चन्द्रिकेत्युदिता बुधैः॥
षण्णबद्ध्येक संख्यान विक्रमाङ्कसमात्यये।
सप्तम्यामसिते पोषे सिद्धेयं नन्दताच्च चिरम्॥
वही श्लोक 20-21।

50. प्रभारवंशवार्धीन्दु देवपाल नृपात्मजे।
श्री मज्जैसुगिदेवेऽसिस्थेम्भाऽवन्तीभवत्यलम्॥
वही, श्लोक 19

51. श्रीमान् श्रेष्ठी समुद्धरस्य तनयः श्री पौरपाटान्वय
व्योमेन्दुः सुकृतेन नन्दतु मही चन्द्रो यदभ्यर्थनात्।
चक्रे श्रावकधर्मदीपकमिमं ग्रन्थं बुधाशाधरो
ग्रन्थस्यास्य चलेखितो मलभिदे मेनादिभः पुस्तकः॥
वही, श्लोक 22

52. राजीमती विप्रलम्भ नाम नेमीश्वरानुगम्।
व्यघत खण्डकाव्यं यः स्वं कृतनिबन्धनम्॥
अनगार धर्मामृत, भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका, श्लोक 12

53. आदेशात्पितुरध्यात्म रहस्यं नाम यो व्यघात्।
शास्त्रं प्रसन्नगम्भीर प्रियमारब्धयोगिनाम्॥
वही, श्लोक 13

54. इत्याशाधर विरचित - धर्मामृत नाम्नि सूक्ति-संग्रहे
योगो द्वीपनयो नामाष्टादशोऽध्यायः।
अध्यात्मरहस्य, प्रस्तावना, पृ. 6।

55. वर्ष 28, अंक 5, मई 1993, कोटा, राजस्थान।

56. नलकच्छपुरे श्री मन्नेमि चैत्यालयेऽसिधत्।
विक्रमाब्दशतेष्वेशा त्रयोदशसु कार्तिके॥
अनगार धर्मामृत टीका, श्लोक 31

57. प्रमारवंशवार्धेन्दु देवपाल नृपात्मजे।
श्री मज्जैतुंगि देवस्मिथाम्नाऽवन्तीनऽवत्यलाम्॥
वही, श्लोक 30

58. अनुष्टुप छन्द सामास्य: प्रमाणं द्विशताधिकैः
सहस्रैद्वादशमितैर्विज्ञेयमनु मानतः। वही, 32

59. सोहमाशाधरोऽकर्ष टीका मेतां मुनि प्रियाम्।
स्वोपज्ञ धर्मामृतोक्तयति धर्म प्रकाशनीम्॥ वही, श्लोक 20

60. खंडिल्यान्वयकल्याण माणिभ्यं विनयादियान्।
साधुः पापाभिद्यः श्री मानासीत् पापपराङ्मुखः॥
तत्पुत्रो बहुदेवोऽभूदाद्यः पितृभिरक्षमः॥
द्वितीयः पदमसिंहश्च पदमालिंगित विग्रहः॥
वही, श्लोक 23-24

61. बहुदेवात्मजाश्चासन् हर देवः स्फुरदगुणः।
उदयी स्तम्भ देवश्च त्रयस्त्रैवर्गिकादादृताः॥
मन्दबुद्धि प्रबोधार्थ महिचन्द्रेण साधूना।
धर्मामृतस्य सागार धर्म टीकास्ति कारिता॥
तस्यैव यतिधर्मस्य कुशाग्रीयधियामपि।
सुदुर्बोधस्य टीकयै प्रसादः क्रियतामिति॥
हरिदेवेन विज्ञप्तो घणचन्द्रो परोद्यतः।
पंडिताशाधरश्चक्रे टीकां क्षोदक्षमाभिमाम्।
वही, श्लोक 25-28

62. मुख्य संपादक, बघेरवाल सन्देश, अ.भा.दि. जैन बघेरवाल संघ, वर्ष 28, अंक 5, मई 1993, प्रस्तावना, पृ. 53।

63. ज्येतिर्विद आशाधर, बघेरवाल सन्देश, 28/5, मई 1993, पृ. 53।

64. (क) अनगार धर्मामृत, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रस्तावना, पृ. 42
(ख) जैन साहित्य एवं इतिहास, पं. नाथूराम प्रेमी
(ग) आत्म रहस्य, प्रस्तावना, पं. जुगलकिशोर मुख्तार, पृ. 33-34।

65. अनगार धर्मामृत, प्रस्तावना, पृ. 52।

- जैन बालाश्रम
आरा

▲▲▲

प्रज्ञापुञ्ज आशाधर

— श्री रमाकान्त जैन

'अनागतं यः कुरुते सः शोभते' की उक्ति को चरितार्थ करनेवाले आशाधर कदाचित् पहले व्यक्ति थे जिन्होंने गृहस्थ रहकर धर्मशास्त्र पर साधिकार अपनी लेखनी चलाई। उनके पूर्व इस विषय पर कुछ चर्चा करने, लेखनी चलाने का कार्य गृह-त्यागी मुनि, आचार्य आदि ही सम्पन्न करते आ रहे थे। आशाधर के समकालीन कविसुहृद उदयसेन मुनि ने इनकी प्रशस्ति निम्नवत की थी -

व्याघ्रेरवालवरवंशसरोजहंसः काव्यामृतोघरसपानसुतृप्तगात्रः।
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षुराशाधरो विजयतां कलिकालिदासः॥

भावार्थ - श्रेष्ठ बघेरवाल वंश के सरोज और हंस, सल्लक्षण के पुत्र आशाधर जिनका गात्र काव्यरूपी अमृत के प्रभूत रसपान से सुतृप्त है, जो नयविश्वचक्षु (विश्व को नय शास्त्र समझानेवाले) और कलिकालिदास (प्रसिद्ध संस्कृत कवि कालिदास के कलियुगीन रूप) हैं, विजय हों।

और मालवराज श्री विन्ध्यवर्मा के महासन्धिविग्रहिक विद्वान कवीश विल्हण ने इनके काव्य की प्रशंसा करते हुए कहा था -

आशाधर त्वं मयि विद्धि सिद्धं निसर्गसौन्दर्यमजर्यमार्यम्।
सरस्वतीपुत्रतया यदेतदर्थे परं वाच्यमयं प्रपञ्चः॥

भावार्थ - सरस्वती-पुत्र होने के नाते मुझमें यह परम वाच्य प्रपञ्च (वाग्विदग्धता) स्फुरित होकर आशाधर के अनुरूप अजर, आर्य और नैसर्गिक सौन्दर्य से युक्त यह काव्य रचना करने की सिद्धि प्राप्त हुई।

इस प्रकार सराहनाप्राप्त कवि आशाधर बहुज्ञ और बहुआयामी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने लौकिक और धार्मिक विविध विषयों से सम्बन्धित पूर्व रचित ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन कर उन पर साधिकार अपनी लेखनी चलाई थी और अनेक कृतियों का प्रणयन किया था।

उनकी उपलब्ध कृतियों में से चार कृतियों - जिनयज्ञकल्प सटीक, त्रिषष्ठिस्मृति पञ्जिका, सागार धर्मामृत टीका और अनगार धर्मामृत टीका - के अन्त में विशद प्रशस्तियाँ अंकित हैं जिनसे कृतिकार के समय, उसके परिवार, उसकी कृतियों और उसके सहयोगियों आदि का काफी कुछ परिचय प्राप्त हो जाता है और उनके सम्बन्ध में ऊहापोह करने से हम बच जाते हैं। कालक्रमानुसार 'जिनयज्ञकल्प सटीक' की रचना विक्रम संवत् 1285 (ईस्वी सन् 1228) में आश्विन मास की पूर्णिमा को; 'त्रिषष्टिस्मृति पञ्जिका' की रचना विक्रम संवत् 1292 (ई.सं. 1235) में; 'सागार धर्मामृत टीका' की रचना वि.सं. 1296 (ई.सं. 1239) में पौष कृष्णा सप्तमी को तथा 'अनगार धर्मामृत टीका' की रचना वि.सं. 1300 (ई.सं. 1243) में कार्तिक मास में पूर्ण हुई थी। ये सभी कृतियाँ मालवराज्यान्तर्गत नलकच्छपुर (नालछा, जो धारा नगरी से 10 कोस पर स्थित है) के नेमिनाथ चैत्यालय में रची गई थीं, कदाचित् यह चैत्यालय उनका स्वयं का रहा होगा। केवल 'जिनयज्ञकल्प सटीक' की रचना के समय परमारवंशीय राजा देवपाल अपरनाम साहसमल्ल उस प्रदेश में सिंहासनारूढ़ था और शेष तीन की रचना उसके पुत्र जैतुगिदेव के राज्यकाल में हुई।

इन कृतियों की प्रशस्तियों के श्लोक 1 व 2 में आशाधर के स्थान, परिवार और कुल धर्म का परिचय निम्नवत दिया हुआ है -

श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः शाकम्भरीभूषण-
स्तत्र श्रीरतिधाम मण्डलकरं नामास्ति दुर्ग महत्।
श्री रत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वया-
च्छ्रीसल्लक्षणतो जिनेन्द्रसमयश्रद्धालुराशाधरः॥ 1॥

सरस्वत्यामिवात्मानं सरस्वत्यामजीजनद्।
यः पुत्र छाहड़ं गुण्यं रंजितार्जुन भूपतिम्॥ 2॥

इनसे विदित होता है कि सपादलक्षविषय (सवालख प्रदेश - नागौर-जोधपुर के आसपास का वह प्रदेश, जहाँ चौहान राजाओं का राज्य था, के अन्तर्गत श्रीसम्पन्न आभूषणरूप शाकम्भरी में अवस्थित श्री (लक्ष्मी) और रति के धाम मण्डलकर (मांडलगढ़) के महान दुर्ग में विमल व्याघ्रेरवाल अन्वय (बघेरवाल वंश) के श्री सल्लक्षण से श्रीरत्नी ने जिनेन्द्र के धर्म में श्रद्धा रखनेवाले आशाधर को जन्म दिया था। और उसने जिस प्रकार अपने आप को सरस्वती (वाग्देवी) में प्रकट कर सारस्वत (विद्वान) बनाया उसी प्रकार अपनी पत्नी सरस्वती से छाहड़ नामक गुणी पुत्र उत्पन्न किया जो अर्जुन (अर्जुन वर्मा) नामक राजा को रंजित (प्रसन्न) करनेवाला था अर्थात् उसका प्रिय पात्र था।

प्रशस्ति श्लोक 5 में इनके सपादलक्ष विषय से मालवमण्डल आने का उल्लेख निम्नवत है -

म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति-
त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रदोः परिमलस्फूर्जत्त्रिवर्गोजसि।
प्राप्तो मालवमण्डले बहुपरीवारः पुरीमावसन्
यो धारामपठज्जिनप्रमितिवाक्शास्त्रे महावीरतः॥

अर्थात् सपादलक्ष विषय पर म्लेच्छ राजा द्वारा आक्रमण किये जाने और वहाँ काफी क्षति पहुँचाये जाने पर उसके त्रास से राजा विन्ध्यवर्मा सपरिवार मालवमण्डल में आ बसे। और वहाँ धारा नगरी में आशाधर ने महावीर नामक पण्डित से जैन शास्त्रों का अध्ययन किया। अपनी 'धर्मामृत' की 'भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका' में आशाधर ने 'म्लेच्छेशेन' का अर्थ 'साहिबुदिनतुरुष्कराजेन' दिया है। तुर्कराज मोहम्मद शाहबुद्दीन ग़ोरी ने 1193 ईस्वी (विक्रम संवत् 1250) में तराइन के दूसरे युद्ध में अंजमेर-दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान को पराजित किया था। अतः यह अनुमान किया जाता है कि मोहम्मद ग़ोरी ने या तो उस युद्ध के उपरान्त अथवा उसके आसपास सपादलक्ष पर आक्रमण किया होगा और वहाँ का राजा विन्ध्यवर्मा रहा होगा। इस श्लोक से यह भी अनुमानित होता है कि आशाधर के पिता सल्लक्षण कदाचित् उक्त राजा की सेवा में रहे और उसके साथ-साथ सपादलक्ष से आकर मालवमण्डल की धारा नगरी में आ बसे।

प्रशस्ति श्लोक 8, जो निम्नवत् है, से विदित होता है कि आशाधर राजा अर्जुनवर्मा के राज्यकाल में जिन धर्म के उदय हेतु धारा नगरी छोड़ श्रावक संकुल नलकच्छपुर में आ बसे थे -

श्रीमदर्जुनभूपालराज्ये श्रावकसंकुले।
जिनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरेऽवसत्॥

'अनगार धर्मामृत टीका' की प्रशस्ति के श्लोक 28 में उन्होंने अपना परिचय 'पण्डित आशाधर' के रूप में दिया है और अपने 'भव्यजनकंठाभरण' के श्लोक 236 में कवि अर्हददास ने इनका उल्लेख 'आशाधर सूरि' के रूप में किया है। इनके पिता सल्लक्षण कदाचित् राजा विन्ध्यवर्मा की सेवा में रहे और इनका पुत्र छाहड़ राजा अर्जुन वर्मा की, किन्तु आशाधर स्वयं किस प्रकार जीविकोपार्जन करते थे, यह स्पष्ट नहीं है।

आशाधर की कृतियाँ

वि.सं. 1285 (1228 ई.) में निबद्ध 'जिनयज्ञकल्प सटीक' की प्रशस्ति में उसके अतिरिक्त जिन अन्य पूर्वरचित कृतियों का उल्लेख है, वे हैं - 'प्रमेयरत्नाकर', 'भरतेश्वराभ्युदयकाव्य', 'धर्मामृत शास्त्र', 'अष्टाङ्गहृदयोद्योत निबन्ध', 'मूलाराधना निबन्ध', 'इष्टोपदेश निबन्ध', 'अमरकोष निबन्ध', 'क्रियाकलाप', 'रौद्रट के काव्यालंकार पर निबन्ध', 'सहस्रनाम स्तवन निबन्ध सहित', 'त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र निबन्धयुक्त', 'नित्यमहोद्योत' और 'रत्नत्रयविधान शास्त्र'। 'निबन्ध' शब्द से आशय टीका से है।

वि.सं. 1292 (1235 ई.) में उन्होंने उपर्युक्त 'त्रिषष्टिस्मृति शास्त्र' की पञ्जिका, वि.सं. 1296 (1239 ई.) में 'धर्मामृत शास्त्र' के 'सागार धर्म' विषयक अध्यायों की रम्य टीका और वि.सं. 1300 (1243 ई.) में 'धर्मामृत' में समाहित दुर्बोध यतिधर्म (अनगार धर्म) की टीका रची थी। 'अनगार धर्मामृत टीका' की प्रशस्ति में दो अन्य पूर्वरचित कृतियों के नाम उल्लिखित हैं, वे हैं - 'राजीमतीविप्रलम्भ खण्ड काव्य' और 'अध्यात्म रहस्य शास्त्र'। ऐसा प्रतीत होता है इन कृतियों की रचना वि.सं. 1296 के उपरान्त हुई होगी, क्योंकि इनका उल्लेख 'जिनयज्ञकल्प सटीक', 'त्रिषष्टिस्मृति शास्त्र पञ्जिका' और 'सागार धर्मामृत टीका' में नहीं है।

इनके अतिरिक्त दो अन्य कृतियों - 'भूपाल-चतुर्विंशति-टीका' और 'आराधनासार' का उल्लेख पं. नाथूराम प्रेमी, पं. परमानन्द शास्त्री, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री और डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य की पुस्तकों में है। प्रेमीजी के 'जैन साहित्य और इतिहास' में आशाधर विषयक लेख में उक्त ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ उनकी टिप्पणियों के साथ पृष्ठ 353-358 पर उदधृत हैं, किन्तु उनमें इन दोनों कृतियों के नाम दृष्टिगत नहीं होते। संभव है इनकी रचना वि.सं. 1300 में रचित 'अनगार धर्मामृत टीका' के उपरान्त हुई हो। संयोग से वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली से प्रकाशित 'जैनग्रन्थप्रशस्ति-संग्रह' भाग प्रथम में पृष्ठ 8-9 पर 'भूपालचतुर्विंशति-टीका' की प्रशस्ति का आदि और अन्त भाग उपलब्ध

है। यद्यपि उसमें रचनाकाल निर्दिष्ट नहीं है, यह विदित होता है कि उसकी रचना विनयचन्द्र के लिए की गई थी।

'शोधादर्श-42' में प्रकाशित डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन के लेख 'जैन स्तोत्र-साहित्य' में पृष्ठ 240 पर उपर्युक्त 'जिन-सहस्रनाम-स्तवन' के साथ-साथ आशाधर के 'सिद्धगुण-स्तोत्र', 'सरस्वति-स्तोत्र' और 'महावीर-स्तुति' का उल्लेख हुआ है। यह विदित नहीं है इनकी रचना कब हुई। इस प्रकार आशाधर की ज्ञात कृतियों की संख्या 20 से अधिक है। इनकी रचनाओं का परिचय क्रमश: निम्नवत है -

1. **प्रमेयरत्नाकर** - यह तर्कप्रबन्ध (तर्कशास्त्रीय ग्रन्थ) है। इसे कृतिकार ने 'स्याद्वाद विद्या का विशद प्रसाद' और 'निरवद्यपद्यपीयूषपूर' कहा है। प्रेमीजी के अनुसार यह गद्य में है, बीच-बीच में सुन्दर पद्य हैं और यह अनुपलब्ध है।

2. **भरतेश्वराभ्युदयकाव्य** - कवि ने स्वयं इसे सत्काव्य की संज्ञा दी है। उन्होंने इसे 'सिद्धयङ्क' कहा है, क्योंकि इसके प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'सिद्धि' शब्द अंकित है। तीन प्रकार की विद्याओं के ज्ञाता कवीन्द्रों को आनन्द देनेवाला भरतेश्वर सम्बन्धी यह काव्य कवि ने टीकासहित स्व श्रेयस् (कल्याण) के लिए रचा बताया है। यह अनुपलब्ध है, किन्तु इसके 'सुधागर्व खर्व' पद आशाधर की 'मूलाराधना टीका' में तथा 'परमसमयसारा-भ्यासानन्दसर्पत्' पद 'अनगार धर्मामृत टीका' में उद्धृत हैं और अध्यात्मरस से परिपूर्ण हैं। अत: अनुमान किया जाता है कि इस काव्य में भरत चक्रवर्ती की मोक्षप्राप्ति का वर्णन रहा होगा।

3. **धर्मामृत शास्त्र** - श्रावक (गृहस्थ) और मुनि धर्म का विवेचन करनेवाले इस शास्त्र का प्रणयन प्रथमतया 'ज्ञानदीपिका पञ्जिका' के साथ हुआ था। बाद में इसके 'सागार धर्मामृत' (गृहस्थ धर्म) और 'अनगार धर्मामृत' (मुनि धर्म) सम्बन्धी अध्यायों पर पृथक्-पृथक् 'भव्यकुमुदचन्द्रिका' नामक टीका ग्रन्थ आशाधर ने लिखे। अपनी ग्रन्थ प्रशस्तियों में आशाधर ने इस कृति का उल्लेख 'योऽर्हद्वाक्यरसं निबन्धरुचिरं शास्त्रं च धर्मामृतं' कहकर किया है। पं. कैलाशचन्द्रजी की 'धर्मामृत (अनगार)' की प्रस्तावना से विदित होता है कि कृतिकार ने 'अर्हद्वाक्यरसं' का अर्थ 'जिनागमनिर्यासभूत' और 'निबन्धरुचिरं' का अर्थ 'स्वयंकृतज्ञानदीपिकाख्यपञ्जिकया रमणीयं' दिया है। अस्तु 'धर्मामृत शास्त्र' जिन आगम का सारभूत है और स्वरचित ज्ञानदीपिका पञ्जिका से रमणीय है। 'धर्मामृत' की पञ्जिका के प्रारम्भ में आशाधर ने लिखा है - "स्वोपज्ञधर्मामृतशास्त्रपदानि किंचित् प्रकटीकरोति"। अर्थात् यह पञ्जिका स्वोपज्ञ (स्व रचित) धर्मामृत शास्त्र के पदों को किंचित् रूप से प्रकट करती है, इसमें प्रत्येक पद्य के

कुछ पदों का विश्लेषण मात्र है, पूर्ण श्लोक की व्याख्या नहीं है। 'सागार धर्मामृत टीका' के प्रारम्भ में उन्होंने यह लिखा बताया जाता है -

समर्थनादि यन्नात्र ब्रुवे व्यासभयात् क्वचित्।
तज्ज्ञानदीपिकाख्यैतत् पञ्जिकायां विलोक्यताम्॥

इसका अर्थ है विस्तार-भय से किसी विषय का समर्थन आदि जो यहाँ नहीं कहा है उसे इसकी ज्ञानदीपिका पञ्जिका में देखें। अस्तु 'धर्मामृत शास्त्र' को भलीभाँति समझने के लिए उसकी पञ्जिका और टीका दोनों का अध्ययन अभीष्ट है।

'धर्मामृत' की रचना के पूर्व श्रावकों (गृहस्थों अर्थात् सागारों) के आचरण के सम्बन्ध में स्वामी समन्तभद्र (120-185 ई.) कृत 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार', अमृतचन्द्र सूरि (10वीं शती ई.) का 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय', सोमदेव सूरि (10वीं शती ई.) का 'उपासकाध्ययन', अमितगति द्वितीय (11वीं शती ई.) रचित 'उपासकाचार', अपरनाम 'अमितगति श्रावकाचार', 'चारित्रसार', 'वसुनन्दिश्रावकाचार', 'पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका' आदि ग्रन्थ विद्यमान थे और मुनि (अनगार) धर्म पर कुन्दकुन्द (8 ई.पू. से 44 ई.) के 'चारित्तपाहुड' औक 'मूलाचार' ग्रन्थ थे।

पं. आशाधर ने अपने से पूर्व रचित प्राय: सम्पूर्ण आगमिक व अन्य साहित्य का सम्यक् अध्ययन-मनन कर उसका उपयोग करते हुए अपने 'धर्मामृत' का प्रणयन किया था। उन्होंने 'मनुस्मृति' का भी प्रचुर उपयोग उसमें किया और वह 'महाभारत' तथा वात्स्यायन के 'कामसूत्र' से उद्धरण देने से भी नहीं चूके। उन्होंने हेमचन्द्र के 'योगशास्त्र' के उद्धरण भी इसमें दिये हैं। किन्तु यह हेमचन्द्र कौन थे, स्पष्ट नहीं है। प्रख्यात हेमचन्द्र सूरि की कृतियों में 'योगशास्त्र' का नाम दृष्टिगत नहीं होता।

'धर्मामृत' को सर्वप्रथम प्रकाशित कराने का श्रेय पं. नाथूराम प्रेमी को है। सन् 1915 में उन्होंने माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से 'सागार धर्मामृत' भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका सहित प्रकाशित किया था और उसका मूल्य मात्र आठ आना था। उसी वर्ष पं. कलप्पा भरमप्पा निटवे ने भी अपने मराठी अनुवाद सहित उसे कोल्हापुर से प्रकाशित किया था जिसमें 'ज्ञानदीपिका पञ्जिका' से स्थान-स्थान पर टिप्पण तो दिये गये थे, किन्तु प्राचीन प्रति अग्नि में भस्म हो जाने के कारण उक्त पञ्जिका स्वतन्त्र रूप से नहीं दी जा सकी थी। सन् 1919 में मा.च. ग्रन्थमाला से 'अनगार धर्मामृत' भी स्वोपज्ञ टीका सहित प्रकाशित हुआ। तदनन्तर इन दोनों के और भी संस्करण प्रकाशित हुए। इनमें उल्लेखनीय हैं वर्ष 1977 और 1978 में भारतीय ज्ञानपीठ से क्रमश: प्रकाशित 'अनगार धर्मामृत' और 'सागार धर्मामृत' के संस्करण, जो 'ज्ञानदीपिका पञ्जिका', पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री कृत हिन्दी अनुवाद, उनकी विस्तत प्रस्तावना और सम्पादन से अलंकृत हैं।

4. **अष्टाङ्गहृदयोद्योत निबन्धम्** - आयुर्वेदविदों के लिए इष्ट, वाग्भट द्वारा रचित वैद्यक ग्रन्थ 'अष्टाङ्गहृदय' अपरनाम 'वाग्भटसंहिता' की व्याख्या करनेवाली यह टीका अब अनुपलब्ध है, किन्तु इसके उद्धरण 'सागार धर्मामृत' में स्थान-स्थान पर पाये जाते हैं।

5. **मूलाराधना निबन्ध** - प्रथम शती ईस्वी के पूर्वार्द्ध में हुए शिवार्य की 'मूल आराधना' अपरनाम 'भगवती आराधना' की टीका स्वरूप यह कृति शोलापुर से प्रकाशित हुई है।

6. **इष्टोपदेश टीका** - लगभग 464-524 ई. में हुए देवनन्दि पूज्यपाद कृत 'इष्टोपदेश' की यह टीका आशाधर ने विनयचन्द्र मुनि की प्रेरणा से लिखी थी। यह माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुई है। इससे उद्धरण 'सागार धर्मामृत टीका' में दिये गये हैं।

7. **अमरकोष निबन्ध** - अमरसिंह द्वारा रचित संस्कृत शब्दकोश 'अमरकोश' की यह टीका भी सम्प्रति अनुपलब्ध है।

8. **क्रियाकलाप** - इसकी प्रति मुम्बई के पन्नालाल सरस्वती भवन में उपलब्ध है।

9. **रौद्रट काव्यालंकार टीका** - संस्कृत में भद्र रुद्रट के 'काव्यालंकार' ग्रन्थ की यह टीका अब अनुपलब्ध है। इससे नामनिर्देशपूर्वक उद्धरण 'अनगार धर्मामृत टीका' में दिये गये हैं।

10. **जिन-सहस्रनाम-स्तवन टीका** - 9वीं शती ईस्वी में हुए जिनसेनस्वामि के 'श्री जिन-सहस्रनाम-स्तोत्र' की आशाधर कृत यह टीका श्रुतसागर सूरि की टीका के साथ भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुई है।

11. **जिनयज्ञकल्प सटीक** - प्राचीन जिन-प्रतिष्ठा शास्त्रों को देखकर आम्नाय विच्छेद को बचाने हेतु युगानुरूप इस प्रतिष्ठा शास्त्र की टीका सहित रचना आशाधर ने 'सर्वज्ञार्चनपात्रदान-समयोद्योत प्रतिष्ठाग्रणी पापा साधु (साहू) के अनुरोध पर की थी और इसका अनेक अर्हत् प्रतिष्ठा कराने के लिए ख्यात खाण्डिल्यवंशी (खण्डेलवाल) केल्हण आदि ने सूक्त अनुराग से पढ़कर प्रचार किया तथा केल्हण ने पढ़ने हेतु इसकी प्रथम पुस्तक (प्रथम प्रतिलिपि) लिखी थी। सन् 1917 में जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय से 'प्रतिष्ठासारोद्धार' नाम से हिन्दी टीका सहित यह प्रकाशित हो चुका है।

12. **त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र** - जिनसेनस्वामि और गुणभद्रकृत 'महापुराण' की कथा के सार स्वरूप 63 शलाका पुरुषों (24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण और 9 बलभद्र) का वर्णन करनेवाले इस शास्त्र की पहले टीका सहित रचना हुई। तदनन्तर

पण्डित जाजाक की प्रेरणा से उस पर 'पञ्जिका' रची गई जिसमें पुराणों में तथा अन्यत्र प्राप्त कथारत्नों को संक्षेप में अनुस्यूत किया गया। यह स्मृतिशास्त्र टीका सहित माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है।

13. नित्यमहोद्योत - मोहरूपी अन्धकार को हरने के लिए रवि-समान अर्हत् देव के महाभिषेक और उनकी अर्चना-विधि बतानेवाला जिनेन्द्रदेव के स्नान-शास्त्र स्वरूप रचित यह ग्रन्थ श्रुतसागरी टीका के साथ प्रकाशित हुआ है।

14. रत्नत्रयविधान शास्त्र में रत्नत्रय विधान की पूजा का माहात्म्य वर्णित है और यह अभी अप्रकाशित है।

15. राजीमती विप्रलम्भ - नेमिनाथ के दीक्षा ले लेने पर राजुलमती की मनोवेदना को व्यक्त करनेवाला, टीकासहित रचित, यह खण्डकाव्य अनुपलब्ध है।

16. अध्यात्म रहस्य शास्त्र - अपने पिता सल्लक्षण के आदेश से योगियों को प्रिय लगनेवाले प्रसन्न-गंभीर-विषयक इस शास्त्र का आशाधर ने प्रणयन किया था। यह अनुपलब्ध है।

17. भूपाल चतुर्विंशति टीका - लगभग 975 ई. में गोल्लाचार्य कवि भूपाल ने 24 तीर्थंकरों की स्तुति में 'भूपाल चतुर्विंशति स्तोत्र' की रचना की थी, जिसकी पाँच प्रमुख जैन स्तोत्रों में गणना है। उक्त स्तोत्र पर विनयचन्द्र के अनुरोध पर आशाधर ने यह टीका रची थी, जो अभी अप्रकाशित है।

18. आराधनासार टीका - यह अनुपलब्ध है।

आशाधर के शिष्य, प्रशंसक, प्रेरक व सहयोगी

'जिनयज्ञकल्प सटीक', 'सागार धर्मामृत टीका' और 'अनगार धर्मामृत टीका' की अन्त्य प्रशस्ति के श्लोक 9 में लिखा है -

यो द्राग्व्याकरणाब्धिपारमनयच्छुश्रूषमाणान्न कान्
षटतर्कीपरमास्त्रमाप्य न यतः प्रत्यर्थिनः केऽक्षिपन्।
चेरुः केऽस्खलितं न येन जिनवाग्दीपं पथि ग्राहिताः
पीत्वा काव्यसुधां यतश्च रसिकेष्वापुः प्रतिष्ठां न के॥

इसका भावार्थ है कि शुश्रूषा (सेवा करनेवाले शिष्यों में से ऐसे कौन हैं जिन्हें आशाधर ने व्याकरणरूपी समुद्र के पार शीघ्र ही न पहुँचा दिया हो तथा ऐसे कौन शिष्य हैं जिन्होंने उनसे षड्दर्शन रूपी परमशस्त्र (षड्दर्शन का ज्ञान) प्राप्त कर अपने प्रतिवादियों को न जीता हो, और ऐसे कौन हैं जो उनसे निर्मल जिनवाणी रूपी दीपक प्राप्त कर मोक्ष-मार्ग

में स्खलित हुए हों तथा ऐसे कौन हैं जो उनसे काव्यसुधा का पानकर रसिकजनों के मध्य प्रतिष्ठा को प्राप्त न हुए हों अर्थात् उन्होंने अपनी सेवा करनेवाले शिष्यों को व्याकरण, षड्दर्शन, जिनवाणी और काव्य की समुचित शिक्षा प्रदानकर उन्हें इन विषयों में पारंगत किया था।

पं. देवचन्द्र को इन्होंने व्याकरण में पारंगत किया था। मालव नरेश अर्जुनवर्मा के गुरु बाल सरस्वती महाकवि मदनोपाध्याय ने इनसे काव्य शास्त्र की शिक्षा ग्रहण की थी। राजा विन्ध्यवर्मा के महासन्धिविग्रहिक (परराष्ट्र मंत्री) कवीश विल्हण इनकी काव्य रचना से इतना प्रभावित रहे कि अपनी रचनाओं में उनका अनुकरण करने में गौरव मानते रहे। कवि अर्हद्दास ने अपने 'मुनिसुव्रत काव्य', 'पुरुदेव चम्पू' और 'भव्यजनकण्ठाभरण' में आशाधर के 'धर्मामृत' और उनकी सूक्तियों से प्रभावित होने का स्पष्ट उल्लेख किया है। आशाधर की शिष्य-मण्डली में केवल गृहस्थी नहीं, अपितु वादीन्द्र विशालकीर्ति, यतिपति मदनकीर्ति, मुनि उदयसेन, भट्टारक विनयचन्द्र, मुनि सागरचन्द्र आदि गृहत्यागी भी रहे बताये जाते हैं।

नलकच्छपुर निवासी खण्डेलवाल अल्हण के पुत्र पापा साहु के अनुरोध पर आशाधर ने 'जिनयज्ञकल्प सटीक' की रचना की थी और खण्डेलवाल केल्हण ने उसका गाकर प्रचार किया था तथा उसकी प्रथम पुस्तक लिखी थी। पं. जाजाक की प्रेरणा से 'त्रिषष्टिस्मृति पञ्जिका' रची गई और खण्डेलवाल महणकमलश्री के पुत्र धीनाक ने उसकी प्रथम पुस्तक लिखी। पोरवाड़ वंशीय श्रेष्ठि समुद्धर के पुत्र महीचन्द्र साहु के अनुरोध पर 'सागार धर्मामृत टीका' तथा हरदेव और धनचन्द्र के निवेदन पर 'अनगार धर्मामृत टीका' की रचना आशाधर ने की थी। इनकी ग्रन्थ प्रशस्तियों में कुछ अन्य नाम भी उल्लिखित हैं, यथा - खण्डेलवाल कल्याण, माणिक्य, विनय, बहुदेव, पद्मसिंह और उदयी स्तम्भदेव।

आशाधर ने सन् 1193 ई. से सन् 1250 ई. के मध्य विन्ध्यवर्मा, अर्जुनवर्मा और उसके पुत्र सुभटवर्मा (प्रशस्तियों में यह नाम उल्लिखित नहीं है), देवपाल और उसके पुत्र जैतुगिदेव नामक पाँच परमारवंशीय मालवाधिपतियों का राज्यकाल देखा था। अपने पिता और पुत्र की भाँति राजसेवा में न होने के कारण आशाधर स्वान्तःसुखाय ही सरस्वती-आराधना, साहित्य-साधना और ज्ञान वितरण में निरत रहे प्रतीत होते हैं। वे मुनि नहीं थे। गृहस्थ रहकर ही उन्होंने यह सब साधना की थी, किन्तु कदाचित् अपनी जीवन-संध्या में वे संसार से उपरत (वैरागी) हो चले थे ऐसा उन्हें प्राप्त 'सूरि' और 'आचार्यकल्प' आदि सम्बोधनों से भासित होता है। व्याकरण, काव्य, अलंकार, शब्दकोश, आयुर्वेद, षड्दर्शन, मनुस्मृति, जिनवाणी, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, न्यायशास्त्र इत्यादि विविध लौकिक

एवं धार्मिक विषयों में पूर्व रचित ग्रन्थों का अवगाहन कर पुस्तक-शिष्य बननेवाले पण्डित आशाधर ने इन विषयों में न केवल अपने शिष्यों को पारंगत किया, अपितु इन पर साधिकार लेखनी चलाकर अपनी प्रणीत कृतियों से संस्कृत-भारती को भी समृद्ध किया। 'नय विश्वचक्षु', 'कलिकालिदास' विरुदों से विभूषित पं. आशाधर की कृतियाँ आज तक विद्वज्जन के लिए प्रेरणास्रोत बनी हुई हैं। यतिपति मदनकीर्ति ने उन्हें 'प्रज्ञापुञ्ज' सही कहा है। उस प्रज्ञापुञ्ज आशाधर को मेरा भी नमन है।

- ज्योति निकुंज
चारबाग
लखनऊ-226 004

▲▲▲

कलिकाल कालिदास आचार्यकल्प पं. आशाधरजी

— डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल

■

जैन श्रमण परम्परा में साधु अहर्निश ज्ञान-ध्यान और तप में लीन रहते हैं। किन्तु जो गृहस्थ-जीवन में भी अपना सारा समय ज्ञान-ध्यान-तप में लगाकर जगत का कल्याण करते हैं वे गृहस्थ उन साधुओं से भी महान हैं जो दिगम्बर वेष धारण कर अहर्निश निर्माण-ध्वंस के अध:कर्म और सामाजिक कार्यों में अनुरक्त रहकर पवित्र श्रमणाचार की विराधना करते हैं। जैन साहित्यकाश में समय-समय पर ऐसी प्रतिभासम्पन्न गृहस्थ विभूतियाँ हुई हैं जिन्हें न केवल राजाश्रय प्राप्त था अपितु वे अपने समय के मुनिराजों, भट्टारकों, पण्डितों एवं जन-सामान्य के श्रद्धा के पात्र, उनके गुरु और जैन दर्शन के अधिकृत प्रकांड विद्वान माने जाते थे। ज्ञान, यश और अंतरंग निर्मल परिणति - इन तीन का सुयोग विरल और अद्‌भुत होता है। ऐसे व्यक्तित्व समाज को महिमा-मण्डित तो करते ही हैं, मानव जगत के सिरमौर भी होते हैं। ऐसी ही एक विभूति थी आचार्यकल्प, पण्डितरत्न महाकवि पं. आशाधरजी, जिन्होंने जैनदर्शन के चारों अनुयोगों का विशद अध्ययन कर प्रथमानुयोग; द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग और भक्ति मार्ग तथा न्याय, व्याकरण, काव्य-अलंकार, शब्दकोश, योगशास्त्र और वैद्यक आदि विषयों पर लगभग बीस ग्रन्थों की संस्कृत भाषा में अधिकारिक रचना की और निष्पृही गृहस्थ-मनीषी जैसा धार्मिक

जीवन- यापनकर जीवनपर्यंत सभी के आदरणीय बने रहे। वे जीवन के अन्त तक गृहस्थ श्रावक ही रहे किन्तु जिन सहस्त्रनाम की रचना करते समय वे संसार के देह-भोगों से उदासीन हो गये थे और उनका मोहावेश शिथिल हो गया था, जैसा कि उनके निम्न वाक्यों से प्रगट है -

प्रभो भवांग भोगेषु निर्विण्णो दुखभीरूकः
एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम्॥ 1॥
अद्य मोहग्रहावेश शैथिल्यात्किञ्चि दुन्मुखः (सहस्त्रनाम)

सहस्त्रनाम की रचना संवत् 1296 से पूर्व हो चुकी थी, जैसाकि जिनयज्ञकल्प की प्रशस्ति में उसका उल्लेख है। अतः सं. 1296 से कुछ पूर्व वे उदासीन श्रावक हो गये थे। तत्वविद् आत्मार्थी व्यक्तित्व सहज ही देह-भोगों एवं संसार से उदासीन हो जाता है जिसकी पुष्टि पण्डित प्रवर आचार्यकल्प पं. आशाधरजी के उक्त कथन से होती है।

महाकवि पं. आशाधरजी तेरहवीं शताब्दी के जैन साहित्याकाश के जाज्वल्यमान प्रतिभाशाली नक्षत्र थे। वे अध्यात्म, दर्शन, न्याय, काव्य, राजनीति, व्याकरण, आयुर्वेद आदि एवं सुसंस्कृत भाषा के विश्रुत अधिकारिक अद्वितीय जैन महाकवि एवं विद्वान थे। उनकी तुलना में उस काल में अन्य कोई जैन गृहस्थ विद्वान नहीं हुआ। यह बात पृथक् है कि अठारहवीं एवं बीसवीं शताब्दी में जैनदर्शन के अनेक प्रतिभाशाली एवं मेधावी गृहस्थ विद्वान हुए जिन्होंने करणानुयोग और द्रव्यानुयोग के ग्रन्थों के गूढ़ अध्ययन, चिंतन एवं लेखन द्वारा जैन टीका साहित्य को समृद्ध किया और कर रहे हैं। उनके योगदान को सदैव स्मृत किया जाता रहेगा और जैन समाज उनका ऋणी रहेगा। ऐसे महानुभाव समाज को अनुप्राणित एवं आत्मार्थी बनाने में अग्रणी रहेंगे।

जीवन परिचय

महाकवि पं. आशाधरजी के पितामह मूलतः माँडलगढ़ (मेवाड़) के निवासी थे। वहीं पं. आशाधरजी का जन्म हुआ। इनकी जाति बघेरवाल थी। आपके पिता का नाम 'सल्लखण' और माता का नाम 'श्री रत्नी' था। इनकी पत्नी का नाम सरस्वती था जो नाम के अनुरूप सुशिक्षित और सुशील थीं। पुत्र का नाम छाहड़ था जिसकी प्रशंसा पं. आशाधरजी ने 'यः पुत्रं छाहडं गुण्यं रंजितार्जनभूपतिम्' - अर्जुन भूपति को अनुरंजित करनेवाले के रूप में की है।[2] आपके पिताश्री भी अध्यात्म-रसिक एवं निष्ठावान श्रावक थे जिनकी प्रेरणा से पं. जी ने 'अध्यात्म रहस्य' नामक ग्रन्थ की रचना की। मालवा नरेश अर्जुनवर्मदेव के भाद्रपद सुदी 15, बुधवार सं. 1272 के दानपात्र के अंत में लिखा है - 'रचितमिदं महासन्धि राजा सलखण संमतेन राजगुरूणा मदनेन'। अर्थात् यह दानपत्र महासन्धि विग्रह मंत्री सलखण की सम्मति

से राजगुरु मदन ने रचा। इससे प्रतीत होता है कि पण्डित आशाधरजी के पिता सलखण अर्जुन वर्मा के महासन्धि-विग्रह मंत्री रहे हों।[3] इस प्रकार पण्डित जी की तीन पीढ़ियाँ राजाश्रय से सम्मानित, लोककल्याणक जैन दर्शन एवं जैनाचार से सम्बद्ध थीं। ऐसा धार्मिक एवं लौकिक अभ्युदय का सुखद संयोग अतिशय पुण्य-योग से ही प्राप्त होता है।

वि.सं. 1249 (ई. सन् 1292) में शहाबुद्दीन गोरी ने पृथ्वीराज चौहान को कैदकर दिल्ली को राजधानी बनाई और अजमेर पर अधिकार कर लिया। उसके आक्रमणों से उत्पन्न भय एवं जीवन की सुरक्षा हेतु पं. आशाधरजी के परिवार के सदस्य धारानगरी में आकर बस गये। उस समय मालवा की धारानगरी विद्या का केन्द्र बनी हुई थी। वहाँ विख्यात शारदा सदन नामक विशाल विद्यापीठ था जो जैन विद्वानों एवं श्रमणों के ध्यान और अध्ययन का केन्द्र था। उस समय पण्डित जी की उम्र 10-15 वर्ष के लगभग थी। धारा नगरी में आशाधरजी ने सुप्रसिद्ध विद्वान पं. महावीर से व्याकरण और न्याय शास्त्र का अध्ययन किया था। राजा विन्ध्य वर्मा का राज्य समाप्त होने पर आप धारानगरी से दश कोस की दूरी पर स्थित नलकच्छपुर (नालछा) आ गये। नलकच्छपुर के तत्कालीन राजा अर्जुनवर्मदेव थे। उनके (पं. आशाधर के) जीवनकाल में पाँच राजाओं ने राज्य किया। वहाँ 30-35 वर्ष रहकर आपने श्री नेमिनाथ जिनालय में जैनदर्शन के साहित्य की रचना की और उनकी टीकाएँ लिखीं। पण्डित जी की साहित्य-सृजन-साधना से जैन साहित्य को नवीन ऊँचाई तो मिली ही पं. जी भी उसके साथ अमर हो गये।

गुरुओं के गुरु

पं. आशाधरजी विलक्षण प्रतिभा एवं असाधारण योग्यता के कवि और विद्वान थे। उनकी साहित्य-साधना और अंतर-बाह्य सहज-सरल जीवन साधर्मी बन्धुओं, भट्टारकों, साधुओं और जन-साधारण के लिए प्रेरणा का स्रोत था। उन्होंने पण्डित जी को अपना गुरु स्वीकार किया था। आपने श्री वादीन्द्र विशालकीर्ति एवं भट्टारक विनयचन्द्र को क्रमशः न्यायशास्त्र और धर्मशास्त्र का अध्ययन कराया था। इसी प्रकार भट्टारक देवचन्द्र एवं देवभद्र, मुनि उदयसेन, उपाध्याय मदनकीर्ति आदि ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था। पं. आशाधरजी बहुश्रुत विद्वान के साथ ही सहृदय, निर्हंकारी, शिष्यों का सम्मान करनेवाले उदारमना महानुभाव थे। यही कारण है कि उनकी साहित्य-सृजन-साधना के पीछे कोई-न-कोई साधर्मी श्रावक या मुनिराज रहे। आपने 'सागार धर्मामृत' ग्रंथ की टीका पौरपट्टान्वयी (परवार) मुनिराज श्री महीचन्द्र की प्रेरणा से की।[4] 'अनगार धर्मामृत' की टीका धणचन्द्र एवं हरिदेव श्रावकों की प्रेरणा से की थी।[5] 'इष्टोपदेश', 'भूपाल चतुर्विंशति' एवं 'आराधनासार' की टीकाएँ मुनि विनयचन्द्र की प्ररेणा से की थीं। जिनयज्ञकल्प सटीक पापा साधु के अनुरोध पर लिखा था। 'रत्नत्रय विधान' सलखणपुर निवासी श्री वागदेव की प्रेरणा

से उसकी पत्नी के धर्म-हितार्थ रचा गया। इसकी प्रशस्ति के चतुर्थ पद में पण्डित जी ने स्वयं को 'गृहस्थाचार्य कुंजर' के रूप में अभिहित किया।[6] इसीप्रकार 'त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र' की रचना जाजाक पण्डित की प्रेरणा से नित्य स्वाध्याय हेतु की। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस काल के श्रावक एवं श्रमण निश्छल, सरल एवं गुणग्राही प्रकृति के सच्चे आत्मार्थी थे जिनकी प्रेरणा, सद्भाव एवं सहयोग से पण्डित जी निर्विघ्न जीवनपर्यन्त साहित्य सृजन करते रहे और उनका साहित्य उन्हीं के काल में स्वाध्याय का विषय बना।

प्रभावोत्कारी लेखक एवं प्रमुख श्रावक

पं. आशाधरजी का लेखन आगम-आधारित तो था ही, वह युक्तिपूर्ण, प्रभावोत्कारी भी था। उनके समकालीन या निकटवर्ती उत्तरकालीन संस्कृत गद्य-पद्य के महाकवि अर्हद्दास हुए। उन्होंने संस्कृत भाषा में 'मुनिसुव्रतकाव्य', 'पुरुदेव चम्पू' एवं 'भव्यजन कण्ठाभरण' की रचना की। पूर्व में वे राग के वशीभूत होकर उन्मार्गी हो गये थे। किन्तु पं. आशाधरजी के धर्मामृत ग्रंथ का उन पर गहन प्रभाव पड़ा और वे कुमार्ग छोड़कर जिनधर्मी श्रावक हो गये। इसकी पुष्टि अर्हद्दासजी ने मुनिसुव्रत काव्य के दशम अध्याय के 64वें पद में 'सद्धर्मामृत मुद्दतं जिनवचः क्षीरोदधेरादरात' कह कर की है। उन्होंने 65वें पद में पं. आशाधरजी का नामोल्लेख कर जिनेन्द्रदेव के महान सत्पथ का आश्रय लेने का बहुमान व्यक्त किया है। चम्पूदेव के अन्तिम पद में भी आपने मिथ्यामार्ग छोड़कर सन्मार्ग में लगाने हेतु पं. आशाधरजी को श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। महाकवि अर्हद्दास ने अपने 'भव्यजनकण्ठाभरण' के पद्य 236 में महाकवि पं. आशाधरजी के गृहस्थ जीवन और उनकी सूक्तियों की प्रशंसा करते हुए लिखा है - 'उन आचार्य आदि की सूक्तियों द्वारा ही जो संसार से भयभीत प्राणी गृहस्थाश्रम में रहते हुए आत्मधर्म का पालन करते हैं और शेष ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और साधु आश्रम में रहनेवालों की सहायता करते हैं, वे आशाधर सूरि प्रमुख श्रावक धन्य हैं।[7] इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि पं. आशाधरजी महान कवि-विद्वान होने के साथ ही श्रावक धर्म का पालन करते हुए चतुर्विध संघ की सहायता करते थे।

आपकी बहुमुखी प्रतिभा से प्रभावित होकर मुनिराज उदयसेन ने आपको 'नयविश्वचक्षु' तथा 'कलिकालीदास' कहकर महिमामण्डित किया। महाविद्वान यतिपति मदनकीर्ति ने आपको 'प्रज्ञापुंज' कहकर सम्मानित किया।[8] राजा विन्ध्य वर्मा के महासन्धि-विग्रह मंत्री कवीश विल्हण थे। आपने पण्डित जी की विद्वत्ता पर मोहित होकर एक श्लोक में उनकी 'सरस्वती-पुत्र' के रूप में प्रशंसा की। श्लोक इस प्रकार है[9] -

आशाधर त्वं मयि विद्धि सिद्धं निसर्ग सौन्दर्यमजर्यमार्य
सरस्वतीपुत्रतया यदेतदर्थे परे वाच्यमयं प्रपञ्चः॥6॥

रचनाएँ

पं. आशाधरजी जैन दर्शन के प्रकांड विद्वान होने के साथ ही अन्य भारतीय ग्रन्थों के भी ज्ञाता थे। उन्हें न्याय, व्याकरण, आयुर्वेद आदि पर भी असाधारण अधिकार था। उन्होंने अष्टांगहृदय, काव्यालंकार और अमरकोश जैसे ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखीं, जो दुर्भाग्य से अप्राप्त हैं। आपने संस्कृत में बहुआयामी जैन साहित्य का सृजन तो किया ही, आपने रचित ग्रंथों के भाव और विषय को स्पष्ट करने हेतु पंजिका और टीकाएँ भी लिखीं। इस प्रकार आप स्वरचित ग्रंथों के आद्य टीकाकार भी हैं। आपकी बीस रचनाओं का उल्लेख मिलता है जिसमें सात रचनाएँ अप्राप्त हैं। आपकी रचनाओं को निम्न रूप से विषयानुसार वर्गीकृत किया जा सकता है -

न्याय व्याकरण

1. क्रियाकलाप टीका
2. अमरकोष टीका
3. प्रमेय रत्नाकर
4. काव्यालंकार टीका

अध्यात्म

5. अध्यात्म रहस्य
6. इष्टोपदेश टीका

आयुर्वेद

7. अष्टांग हृदयोद्योत टीका

चरणानुयोग

8. ज्ञानदीपिका पंजिका
9. अनगार धर्मामृत - भव्य कुमुदचन्द्र टीका (सं. 1300)
10. सागार धर्मामृत - भव्य कुमुदचन्द्र टीका (सं. 1296)
11. मूलाराधना दर्पण (भगवती आराधना की टीका)
12. आराधनासार टीका

प्रथमानुयोग

13. भरतेश्वराभ्युदय काव्य
14. त्रिषष्टि स्मृति ग्रंथ (सं. 1291/92)
15. राजमति विप्रलम्भ सटीक
16. भूपाल चतुर्विंशतिका टीका

पूजापाठ

17. जिनयज्ञकल्प सटीक (सं. 1285)
18. नित्यमहोद्योत
19. सहस्रनामस्तव (स्वोपज्ञविवृति सहित)
20. रत्नत्रय विधान-सटीक (सं. 1282)

अन्य ग्रन्थ - जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष के अनुसार आपने वाग्भट्ट संहिता नामक न्याय ग्रंथ की रचना की।[10] कोषकार ने ग्रंथ-सूची में आराधनासार टीका का उल्लेख नहीं किया है। यह टीका आमेर के शास्त्र भंडार में उपलब्ध है। इसी प्रकार पं. आशाधरजी कृत 'शांत्यर्थ होम विधान' (तीन पृष्ठीय) अनेकान्त ज्ञान मन्दिर, बीना में उपलब्ध है, ऐसा ग्रंथ सूची से ज्ञात हुआ है।

स्व-ग्रंथों के आद्य टीकाकार - महाकवि पं. आशाधरजी ने स्वरचित ग्रंथों की टीका करते समय आद्य टीकाकार-विद्वान होने का परिचय दिया है। आपने अपनी टीकाओं में पूर्ववर्ती जैनाचार्यों, यथा - कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, भट्टाकलंकदेव, भगवज्जिनसेनाचार्य, अपराजिताचार्य, गुणभद्राचार्य, मुनिराज रामसेन, आचार्य सोमदेव, आचार्य अमितगति, आचार्य वसुनन्दि, प्रभाचन्द्र, पद्मनन्दि की रचनाओं के श्लोक आदि उद्धृतकर अपने बहुमुखी ज्ञान-विद्या और पांडित्य का प्रमाण दिया है।

इतना ही नहीं आपने जैनेत्तर ग्रंथकार, यथा - भद्ररूद्रट, वाग्भट्ट, वात्स्यायन, मनु, व्यास आदि की रचनाओं को उद्धृत कर अपनी उन्मुक्त ज्ञानार्जन-प्रकृति का भी परिचय दिया है। आपने जैनाचार्यों के नाम का उल्लेख किये बिना अनेक जैनागमों की गाथाओं और श्लोकों का उल्लेख कर अपने विषय की पुष्टि की है। टीकाओं में अन्य अनेक ऐसी गाथाएँ भी हैं जिनके स्रोत भी ज्ञात नहीं होते। यह पण्डित जी को महापंडित एवं विशाल व्यक्तित्ववाला सहज सिद्ध करता है। उनकी संस्कृत टीकाएँ बोधगम्य एवं विषय के अनुरूप भावयुक्त हैं। पांडित्य-प्रदर्शन के साथ ही हृदय को उद्वेलित करने की क्षमता उनमें विद्यमान है। उनकी रचनाएँ एवं टीकाएँ जैन साहित्य की बहूमूल्य निधि हैं।

पण्डित जी की विशिष्ट कृति-'धर्मामृत'

पण्डितप्रवर आशाधरजी ने सम्वत् 1300 में 'धर्मामृत' ग्रंथ की रचना पूर्ण की। यह उनकी विद्वत्तापूर्ण कृति है जिसके कारण उन्हें आचार्यकल्प के रूप में अभिहित किया गया। धर्मामृत के दो भाग हैं - प्रथम भाग का नाम अनगार धर्मामृत है और द्वितीय भाग का नाम सागार धर्मामृत है। यह संस्कृत भाषा की पद्य रचना है। ग्रंथकार ने इसकी स्वयं ही भव्यकुमुद चन्द्रिका टीका और ज्ञान दीपिका नामक पंजिका लिखी। इनमें विषय-वस्तु

के स्पष्टीकरण के साथ ही विषय से सम्बन्धित अन्य सामग्री एवं उद्धरण देकर जिज्ञासु पाठकों के लिए अधिक उपयोगी बना दिया है। अनगार धर्मामृत में साधु के एवं सागार धर्मामृत में गृहस्थों के स्वरूप और उनकी अंतर-बाह्यचर्या पर विस्तृत प्रकाश डाला है। धर्म वस्तु का स्वभाव होने के कारण अमृत-स्वरूप है अत: उसकी प्राप्ति के उपायरूप श्रमण और श्रावकों के लिए धर्मामृत ग्रंथ महत्वपूर्ण, पठनीय और मननीय है।

1. अनगार धर्मामृत - इसके नौ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में धर्म, निश्चय रत्नत्रय का स्वरूप और निश्चय-व्यवहार के भेदों का वर्णन 114 श्लोकों में किया है। अन्तिम श्लोक में ध्यान के क्रम एवं उसके फल का उल्लेख करते हुए कहा है कि "इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में मोह-राग-द्वेष को नष्ट करने से चित्त स्थिर होता है, चित्त स्थिर होने से ध्यान होता है। ध्यान से रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। रत्नत्रय से मोक्ष होता है और मोक्ष से सुख मिलता है"।[11]

दूसरे अध्याय का नाम सम्यक्त्वोपादन क्रम है, जिसमें 114 श्लोक हैं। इसमें सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन का स्वरूप एवं सम्यक्त्व की प्राप्ति का उपाय, नौ पदार्थ, पाँच लब्धि, आठ अंग, पच्चीस दोष आदि का वर्णन है तथा मिथ्यादृष्टियों के संसर्ग (साथ) का निषेध करते हुए आचार-भ्रष्ट मुनिराजों एवं भट्टारकों से दूर रहने का उपदेश दिया है। पण्डित जी ने मिथ्याज्ञानियों के सम्पर्क का भी निषेध किया है।[12] पण्डित जी का यह उपदेश 'संगति अनुसार प्रवृत्ति' के मनोविज्ञान पर आधारित है।

तीसरा अध्याय ज्ञानाराधना का है जिसमें 24 श्लोक हैं। इसमें ज्ञान के भेद-प्रभेद दर्शाकर ज्ञानाराधना को परम्परा-मुक्ति का कारण कहा है। ज्ञान-शून्य तप से मोक्ष नहीं पहुँचा जा सकता तथा तत्वज्ञानामृतपान से अमरता प्राप्त होती है, यथा -

तत्वज्ञानामृतं सन्तु पीत्वा सुमनसोऽमरा।[13]

पण्डित जी ने स्वाध्याय तप को उत्कृष्ट शुद्धि का कारण कहा है, उससे अनंतगुनी विशुद्धि होती है अत: मरण के समय आराधना की सिद्धि हेतु सदा स्वाध्याय तप करना चाहिये।[14]

चतुर्थ अध्याय चारित्राराधन का है जिसमें 183 श्लोक हैं। इसमें चारित्र का महात्म्य, पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति एवं पाँच समिति का विशद वर्णन है। संयम के बिना तप सफल नहीं होता। व्यवहार-संयमपूर्वक निश्चय-संयम की आराधना करने पर ही तपस्या फलदायक होती है। रत्नत्रय में एक समय प्रवृत्त एकाग्रता निश्चयसंयम है और प्राणिरक्षा तथा इन्द्रिय-नियंत्रण व्यवहार-संयम है। दोनों प्रकार का तप चारित्र में गर्भित है।[15]

पंचम अध्याय पिण्ड (भोजन) शुद्धि का है जिसमें 69 श्लोक हैं। इसमें आहारचर्या का विशद वर्णन करते हुए आहार के 46 दोषों अर्थात् 16 उद्गम दोष, 16 उत्पादन दोष और 14 अन्य दोषों का वर्णन किया है। इन दोषों से रहित आहार ही साधु को ग्राह्य है। दातार को नवधा भक्तिपूर्वक आहार देना चाहिये। द्रव्य से शुद्ध भोजन भी भाव से अशुद्ध होने पर अशुद्ध हो जाता है। अशुद्ध भाव बन्ध का कारण है और और शुद्ध भाव मोक्ष का कारण है। अतः द्रव्य शुद्धि के साथ भाव शुद्धि होना आवश्यक है।[16] मन-वचन-काय सम्बन्धी कृत-कारित-अनुमोदना से रहित आहार नव कोटि शुद्ध होता है, वही साधु को ग्राह्य है। उसी से आत्मस्वरूप की उपलब्धि होती है।[17] पिण्ड शुद्धि सम्बन्धी जिनाज्ञा का अनुपालन श्रावक और श्रमणों दोनों से अपेक्षित है।

छठे अध्याय का नाम 'मार्ग महोद्योग' है जिसमें 112 श्लोक हैं। इसमें उत्तमक्षमादि दशधर्म, अनित्यादि 12 भावनाएँ, बाइस परिषहजय आदि का वर्णन किया है। सातवाँ अध्याय 'तपाराधना' का है जिसमें 104 श्लोक हैं। इसमें बारह प्रकार के अंतर-बाह्य तपों और उनके भेद-प्रभेदों का वर्णन है जो मूलतः पठनीय/मननीय है। आठवें अध्याय का नाम 'आवश्यक निर्युक्ति' है, जिसमें 134 श्लोक हैं। इसमें साधु के षटकर्म, यथा - सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग के स्वरूप तथा उनके भेदादिक का वर्णन है। अंत में कृतिकर्म का वर्णन है। वन्दना और कायोत्सर्ग के 32-32 दोषों का वर्णन श्लोक 98 से 121 तक किया है। श्रमणाचार के लिए यह अधिकार बहुत महत्वपूर्ण और अनुपालनीय है।

नवम अधिकार में श्रमणों की निमित्त-नैमित्तिक क्रियाओं का वर्णन 100 श्लोकों में किया है। मोक्षमार्ग में स्वाध्याय तप की अहं भूमिका दृष्टिगत कर पण्डित जी ने स्वाध्याय कब और कैसे प्रारम्भ तथा समाप्त करना चाहिए इसका विवरण दिया है। साधु को प्रातःकाल देव-वन्दनाकर छह प्रकार के कृतिकर्म करना चाहिये। पश्चात् दो घड़ी कम मध्याह्न तक स्वाध्यायकर आहारचर्या को जाना चाहिये। फिर प्रतिक्रमणकर मध्याह्न काल के दो घड़ी बाद से लेकर दिन डूबने के दो घड़ी पूर्व तक स्वाध्यायकर दैवसिक प्रतिक्रमण करना चाहिये। पश्चात् रात्रियोग ग्रहणकर आचार्य-वन्दना एवं देव-वन्दना करना चाहिये। दो घड़ी रात्रि व्यतीत होने पर अर्द्धरात्रि से दो घड़ी पूर्व तक पुनः स्वाध्याय करना चाहिये। स्वाध्याय न कर सकें तो देव-वन्दना करना चाहिये। नैमित्तिक क्रियाविधि में अष्टमी, चतुर्दशी, पक्षान्त, संन्यास, श्रुतपंचमी, अष्टाह्निका क्रिया विधि, वर्षायोग ग्रहण और त्याग विधि आदि आती है जिनमें यथायोग्य भक्तियों का प्रयोग होता है। पश्चात् आचार्य-पद प्रतिष्ठापन, आचार्य के 37 गुण, दीक्षाविधि, दीक्षा की पात्रता, केशलोंच विधि तथा साधुओं के अन्य मूलगुणों का वर्णन किया है। इस अध्याय के 26वें श्लोक में भगवान

के गुणानुराग का फल दर्शाते हुए कहा है कि भगवान के गुणों में अनुराग करने से शुभभाव होते हैं, उनसे कार्यों में विघ्न डालनेवाले अन्तराय कर्म के फल देने की शक्ति क्षीण होती है अत: अन्तराय कर्म इष्ट का घात करने में असमर्थ होता है।[18] अत: वीतरागी अरहंत-सिद्ध आदि का स्तवन-नमस्कार आदि से इच्छित प्रयोजन की सहज सिद्धि होती है।

2. सागार धर्मामृत - मानव जीवन की महत्ता सद्विचार और सदाचार में निहित है। मानव जीवन से ही संयम द्वारा ज्ञायक भावरूप स्वभाव को प्राप्त किया जा सकता है। गृहस्थ जीवन प्रवृत्तिमूलक होकर निवृत्ति मार्ग की प्रयोगशाला है जो क्रमिकरूप से व्यक्ति को निवृत्तिमार्गी साधुत्व के योग्य बनाता है। सागार धर्मामृत में गृहस्थ जीवन के आचार-विचार का सांगोपांग वर्णन किया है।

प्रथम अध्याय में 20 श्लोक हैं जिसमें श्रावक धर्म का वर्णन है। आगार घर को कहते हैं और जो घर में रहते हैं वे सागार (स-आगार) कहलाते हैं। ये आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूपी चार संज्ञाओं से पीड़ित होते हैं। इसमें सम्यक्त्व का स्वरूप और महिमा बताई है। सम्यक्त्व की प्राप्ति पाँच लब्धिपूर्वक होती है। संज्ञी तिर्यंच पशु भी सम्यक्त्व के अधिकारी हैं। सम्यक्त्वपूर्वक निरतिचार अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत और सल्लेखना उपादेय है। पक्ष, चर्या और साधन के आधार पर श्रावकों के तीन भेद हैं - पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। यह देश संयम की तीन अवस्थाओं का सूचक है जिसका वर्णन आगामी अध्यायों में किया है।

दूसरे अध्याय में 87 श्लोकों में पाक्षिक श्रावक के आचार-विचार और कर्तव्यों का वर्णन है। पाक्षिक का अर्थ है - साधारण श्रावक अर्थात् अव्रति श्रावक। सम्यक्त्वपूर्वक पाक्षिक श्रावक अष्टमूल गुण अर्थात् मद्य, मांस, मधु और पाँच उदम्बर फलों का त्यागी होता है। रात्रि भोजन और बिना छना जल पीना वर्जित है। जीवों पर दया तथा पंचपरमेष्ठी में भक्ति ये श्रावक के मूलगुण हैं। इसमें जैन दीक्षा का विधान भी दर्शाया है।[19] श्रावक के आवश्यक कार्य हैं - देवपूजा, गुरु की सेवा-उपासना, पात्रों को दान देना तथा धर्म और यश बढ़ानेवाले कार्य, जैसे - स्वाध्यायशाला, भोजनशाला एवं औषधालय आदि का निर्माण।[20] जन-साधारण के जीवन स्तर में सुधार हेतु पाक्षिक श्रावकों के कर्तव्यों का परिपालन उपयोगी है।

तीसरा अध्याय नैष्ठिक (दार्शनिक) श्रावक से सम्बन्धित है। नैष्ठिक श्रावक की ही ग्यारह प्रतिमाएँ होती हैं। तीसरे अध्याय के 32 श्लोकों में पहली दर्शन प्रतिमा का वर्णन है। उत्तमलेश्या सहित दार्शनिक श्रावक तीन प्रकार के होते हैं - गृहस्थ, ब्रह्मचारी एवं भिक्षुक जो क्रमशः जघन्य, मध्यम और उत्तम श्रावक कहे जाते हैं। ये तीनों स्तर गृहस्थों

के क्रमिक धार्मिक विकास-स्तर के भी सूचक हैं। दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषद्योपवास, सचित्त-विरत, दिवा मैथुन-विरत इन प्रतिमाओं के धारक जघन्य श्रावक हैं। अब्रह्म-विरत, आरम्भ-विरत और परिग्रह-विरत प्रतिमाओं के धारक वर्णी, ब्रह्मचारी या मध्यमश्रावक हैं। अनुमति-विरत और उद्दिष्ट-विरत प्रतिमा भिक्षुक या उत्तम श्रावक की हैं। दार्शनिक श्रावक मद्य, मांस, मधु, मक्खन आदि का व्यापार त्रियोगपूर्वक न तो स्वयं करता है, न करवाता है और न उसकी अनुमोदना करता है। चमड़े में रखे घी आदि का त्यागी होता है।[21] सप्त व्यसनों का त्यागी होता है। पाक्षिक श्रावक इनका सातिचार और दार्शनिक श्रावक निरतिचार पालन करता है। चौथे अध्याय में दूसरी व्रत प्रतिमा का स्वरूप और पंचाणुव्रतों के भेद-प्रभेद आदि का वर्णन 66 श्लोकों में किया है। ऐसा श्रावक माया, मिथ्यात्व और निदान रूप तीन शल्यों से रहित होता है। उसके पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत - ये बारह व्रत उत्तरगुण होते हैं। वह चारों प्रकार के रात्रि भोजन का त्यागी होता है।

पाँचवें अध्याय में 55 श्लोक हैं जिसमें तीन गुणव्रतों - दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत और चार शिक्षाव्रतों - देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभाग व्रत तथा उनके अतिचारों का वर्णन है। अन्तिम श्लोक में पं. आशाधरजी ने सम्यग्दर्शन की शुद्धता सहित पाँच अणुव्रत और सात शीलव्रतों के निरतिचार पालन करनेवाले, समितियों में तत्पर, संयमनिष्ठ, जिनागमज्ञानी, गुरु-सेवक, दया-दान में तत्पर सरल-सदाचारी महानुभाव को 'महाश्रावक' घोषित किया है।[22]

छठे अध्याय में श्रावक की सम्पूर्ण दैनिकचर्या का वर्णन 45 श्लोकों में किया है जो व्यक्ति को सदाचारी एवं आदर्श धार्मिक नागरिक बनाता है। व्रती श्रावक को ब्रह्ममुहूर्त में सोकर उठकर णमोकार मंत्र की जाप देकर 'मैं कौन हूँ', 'मेरा क्या धर्म है', और व्रतादिक की क्या स्थिति है आदि विषयों पर चिन्तवन करना चाहिये। नित्यकर्म के बाद देव-दर्शन, पूजन आदि विधिपूर्वक सम्पूर्ण मनोयोग से करना चाहिये। पश्चात् अपना व्यावसायिक कार्य हर्ष-विषादरहित भाव से करे। मध्याह्न की वन्दना कर अतिथि के प्रतीक्षापूर्वक आहार दान देकर भोजन करे। हिंसक मनोरंजन आदि से विरत रहे। भोजन के बाद विश्राम करके गुरुओं और साधर्मी बन्धुओं के साथ तत्त्व-विचार एवं जिनागम के रहस्यों का विचार करे। सन्ध्या में देवपूजा तथा षटकर्म अनुसार सामायिककर शक्ति अनुसार ब्रह्मचर्य का पालन करे। नींद टूटने पर वैराग्य एवं मोह टूटने की भावना भावे और मोह-क्षय हेतु निरंतर प्रयत्नशील रहे। व्रतीश्रावक निरंतर मुनिधर्म के पालन करने की भावना भाता हुआ बुद्धिपूर्वक सुख-दुख, जीवन-मरण, शत्रु-मित्र एवं मणि-धूल में समताभाव धारण करता है तथा निर्विकल्प समाधि की भावना भाता है।

सातवें अध्याय में 61 श्लोक हैं जिनमें दर्शन और व्रत प्रतिमाओं के आगे की सामायिक आदि नौ प्रतिमाओं का स्वरूप बताया है। श्रावक क्रम से शक्ति-अनुसार इन प्रतिमाओं को धारण करता हुआ आत्मशुद्धि हेतु अनगारी (दिगम्बर साधु) होने का उपक्रम करता है। अन्तिम उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा, जो श्रमणचर्या का मूलाधार है, का वर्णन बहुत विस्तार से किया है जो पठनीय और अनुकरणीय है। श्रावक को दर्शन-व्रत प्रतिमा आदि के साथ दान, शील, उपवास और पूजा भी यथायोग्य करना चाहिए और ग्रहण किये व्रतों की रक्षा सप्रयत्न करना चाहिये। व्रत भंग भव-भव में दुखदायी होता है। श्रावक को अध्यात्म आदि विषयक उत्तम स्वाध्याय, अनित्यादि भावना तथा दर्शन विशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं का प्रमादरहित होकर चिंतवन करना चाहिये और सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण की भावना भाना चाहिये।

आठवें अध्याय के 111 श्लोकों में साधक श्रावक का वर्णन सविस्तार किया है और अंत में सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण को 'महायज्ञ' दर्शाते हुए उसे महिमामंडित किया है। समाधिमरण को प्राप्त हुआ भव्य जीव इस संसाररूपी पिंजरे को तोड़ देता है, यही उसका माहात्म्य है। पण्डित जी ने समाधिमरण में स्थित श्रावक की मोक्ष भावना भायी है, जो इस प्रकार है।[23]

शुद्धं श्रुतेन स्वात्मनं गृहीत्वार्य स्वसंविदा।
भावयंस्तल्लयापास्तचिन्तो मृत्वैहि निर्वृतिम्॥ 93॥

हे आर्य, श्रुतज्ञान के द्वारा राग-द्वेष-मोह से रहित शुद्ध निजचिद्रूप का निश्चय करके, स्वसंवेदन के द्वारा अनुभवन करके और उसी में लय होने से समस्त विकल्पों को दूर करके अर्थात् निर्विकल्प ध्यानपूर्वक मरण करके मोक्ष को प्राप्त करो।

पंडितप्रवर, तत्वमर्मज्ञ पं. आशाधरजी ने उक्त श्लोक में संक्षेप में मोक्ष-प्राप्ति का उपाय बता दिया है। आत्मार्थी को सर्वप्रथम जिनागम के अभ्यास से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का निर्णय करना चाहिये। पश्चात् स्वसंवेदन के द्वारा आत्मा की अनुभूति करनी चाहिये। आत्मानुभूति ही वास्तव में सम्यक्त्व है। शुद्धात्मानुभूति निर्विकल्प आत्मा में लीन होने से होती है। इस तरह मरण हो तो उत्कृष्ट तीन भव में मुक्ति हो सकती है। इस प्रकार पण्डित जी ने धर्मामृत के द्वारा आत्मा से परमात्मा होने का अंतर-बाह्य स्वरूप बताकर भव्य जीवों का परम उपकार किया है। सभी आत्मस्वरूप को पहिचान कर जिनेश्वरी मार्ग का अनुसरण करें, यहीं भावना है।

अध्यात्म रहस्य ग्रंथ

अध्यात्म रहस्य में पण्डित प्रवर आशाधरजी का द्रव्यानुयोग विषयक ज्ञान एवं मौलिक चिंतन प्रकाशित हुआ है। इसमें संस्कृत के 72 श्लोक हैं, जो महान कवि विद्वान ने अपने

पिताश्री की आज्ञा से रचे थे। इसमें आत्मा-परमात्मा विषयक यथार्थ वस्तुस्थिति का गूढ़ रहस्य उद्घाटित हुआ है। अध्यात्म रहस्य में आत्मा के तीन भेद किये हैं - 1. स्वात्मा, 2. शुद्धस्वात्मा और 3. परब्रह्म। इनका स्वरूप और प्राप्ति का उपाय भी दर्शाया है। आचार्य कुन्दकुन्द और अन्य आचार्यों ने आत्मा के तीन भेद बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के रूप में किये हैं। समान स्वरूप होते हुए उन्हें भिन्न नाम देना पण्डित जी के मौलिक चिन्तन का कौशल है। सिद्धान्ताचार्य (स्व.) पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री के मतानुसार यह प्रसन्न किन्तु गम्भीर रचना है। इसे पढ़ते ही अर्थ-बोध हो जाता है। उसका रहस्य समझने के लिए अन्य शास्त्रों की सहायता लेनी होती है, जो योगाभ्यास का प्रारम्भ कर रहे हों उनके लिए यह बहुत प्रिय है।[24]

'अध्यात्म रहस्य' कृति प्राप्त करने का बहुत प्रयास किया किन्तु प्राप्त नहीं हो सकी। जब कभी प्राप्त होगी, उस पर लिखने की भावना है ताकि जैनजगत उसकी विषय-वस्तु से परिचित हो सके।

जिनयज्ञकल्प (सटीक)

प्राचीन जिन प्रतिष्ठाशास्त्रों के आधार पर भट्टारकीय तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप पं. आशाधर जी ने 'जिनयज्ञकल्प' नाम से प्रतिष्ठा शास्त्र की रचना की थी। यद्यपि पण्डित जी अंतर-बाह्य रूप से वीतरागता को समर्पित थे, फिर भी उन्होंने जैनाचार के नामधारी महानुभावों के लौकिक हितार्थ इसकी रचना कर अज्ञानीजनों को जैनधर्म से सम्बद्ध रखने का प्रयास किया। उनकी इस दृष्टि या भावना का आभास जिनयज्ञकल्प के तृतीय अध्याय - यागमण्डल पूजा की निम्न पंक्ति से होता है[25] -

अव्युत्पन्न द्रशः सदैहिक फल प्राप्तीच्छायार्चन्ति यान (देवान) (66)

अर्थ - अज्ञानीजन ऐहिक फल की प्राप्ति की इच्छा से देवी-देवताओं को पूजते हैं।

उक्त कथन कर पण्डित जी ने यह घोषित कर दिया कि वीतरागता के महान उद्देश्य की पूर्ति हेतु अज्ञानियों-कृत कार्यों का अनुकरण न करें अन्यथा इच्छित इष्ट की प्राप्ति नहीं होगी। सुविज्ञ पाठक एवं गृहत्यागी साधक महानुभाव उन्मुक्त भाव से पं. आशाधरजी की उक्त भावना/अभिप्राय को सही परिप्रेक्ष्य में समझेंगे, ऐसी भावना है।

उपसंहार

पं. आशाधरजी विद्याभ्यासी, विद्यारसिक और महान पुस्तक शिष्य थे। वे अपने ज्ञान एवं लक्ष्य के प्रति प्रामाणिकतापूर्वक समर्पित थे। इसीकारण उन्होंने अपनी रचनाओं में आत्मा के अकर्त्ता-अभोक्तारूप ज्ञायक स्वभाव की प्राप्ति का रत्नत्रयरूप राजमार्ग की व्याख्या निश्चय-व्यवहार नय के सुमेल-सुसंगतिपूर्वक की। कहीं किसी स्तर पर अपेक्षित

कथन से अधिक कुछ नहीं कहा। किसी भी रूप में किसी विषय पर पक्षपात, पूर्वाग्रह या आगम के प्रतिकूल कथन नहीं किया। वे कल्पनाशील विचारक एवं लेखक थे। जहाँ कहीं उन्होंने स्व-कथन किया उसके साथ युक्ति और तर्क भी दिये ताकि परीक्षा-प्रधानी जैन बन्धु उस पर विचार एवं निर्णय कर सकें।

शुद्धात्मा की उपलब्धि ही उन्हें इष्ट थी जो निश्चय नय के अवलम्बन से ही सुलभ है। निश्चयनय कर्त्ता, कर्म, करण आदि षट कारकों को वस्तु से अभिन्न मानता है जबकि व्यवहार नय षटकारकों को वस्तु से भिन्न देखता है।[26] उनके अनुसार निश्चय से शून्य व्यवहार व्यर्थ है तदनुसार व्यवहार के बिना निश्चय भी सिद्ध नहीं होता। उनकी यह आगमोक्त दृष्टि स्वावलम्बन से स्वतंत्रता के सूत्र की पुष्टि करती है। पण्डित जी वीतरागी देव को ही वंदनीय मानते थे। भट्टारकीय युग में भट्टारकीय परम्परा का दृढ़तापूर्वक विरोध कर पण्डित जी ने कुदेवादि शासन देवी-देवताओं की पूजा का विरोध किया। श्रमण एकदेश वीतरागी होने के कारण पूज्य होते हैं। किन्तु, वीतरागताविहीन अजितेन्द्रिय मुनिराज, जो धर्म के इच्छुक लोगों पर भूत की तरह सवार होते हैं, को मिथ्यात्वी होने के कारण उनका त्रियोगपूर्वक त्याग करने का उपदेश दिया। नग्न भट्टारकों को भी पं. आशाधरजी ने इसी श्रेणी में रखा। यह संयोग या पण्डित जी के भाग्य की बात थी कि तत्कालीन विरोधीजन पण्डित जी के उक्त कथन को सहन कर गये और उसका प्रतिकार नहीं किया अन्यथा मरणान्तक दुखदायी कोई भी दुर्घटना पण्डित जी के जीवन में भी घट सकती थी। पण्डित जी को किसी पंथ विशेष से जोड़ने/सम्बन्ध करते समय तत्कालीन परम्परागत परिस्थितियाँ, पण्डित जी की विशाल मानवीय-हित-संचेतना, वीतरागता के प्रति पूर्ण समर्पण, अंतर-बाह्य निर्मल-विद्याभ्यासी जीवन आदि बिन्दु का समायोजन किया जाना अपेक्षित है।

इतिहास की घटनाओं की पुनरावृत्ति किसी न किसी रूप में होती है। वर्तमान परिस्थितियाँ तेरहवीं शताब्दी से भी अधिक विस्फोटक एवं दुरूह हैं, जहाँ आगम की मर्यादा की बाढ़ को निर्ममतापूर्वक विकृत-अकृत किया जा रहा है। प्रत्येक आगम समर्थक-भाव प्रतिशोध को जन्म दे रहा है। अहिंसा की साधना को हिंसा-सर्प डस रहा है। धार्मिक सहिष्णुता एवं सद्भाव से जीवन शून्य हो गया है। धर्मचर्या व्यक्तिवादी अहंतुष्टि का कारण बनी है। अध:कर्म की व्याख्या तिरोहित हो गयी है। अकरणीय करणीय हो गया है। ऐसी स्थिति में पं. आशाधरजी का कर्तृत्व, आगमिक स्पष्टता, निजी दृष्टता आदि हमें नयी रोशनी-प्रेरणा दें, यही सहज भावना है। प्राणि धर्मामृत का पान कर सबको सुखी करें - स्वयं सुखी हों, यही पण्डित जी के सृजन की सार्थकता है।

1. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग-2, पृष्ठ 410
2. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग-2, पृष्ठ 409
3. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग-2, पृष्ठ 410
4. परवार जैन समाज का इतिहास, पृष्ठ 25
5. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग-2, पृष्ठ 412
6. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग-2, पृष्ठ 410
7. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-4, पृष्ठ 50
   जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग-2, पृष्ठ 405-406
8. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-4, पृष्ठ 42
9. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग-2, पृष्ठ 408
10. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग-1, पृष्ठ 351-352 (प्रथम संस्करण)
11. धर्मामृत-अनगार, प्रथम अध्याय, श्लोक 114
12. धर्मामृत-अनगार, द्वितीय अध्याय, श्लोक 96, 97
13. धर्मामृत-अनगार, तृतीय अध्याय, श्लोक 16 एवं 19
14. धर्मामृत-अनगार, तृतीय अध्याय, श्लोक 23
15. धर्मामृत-अनगार, चतुर्थ अध्याय, श्लोक 180, 182
16. धर्मामृत-अनगार, पंचम अध्याय, श्लोक 67
17. धर्मामृत-अनगार, पंचम अध्याय, श्लोक 69
18. धर्मामृत-अनगार, नवम अध्याय, श्लोक 26
19. धर्मामृत-सागार, प्रथम अध्याय, श्लोक 22
20. धर्मामृत-सागार, प्रथम अध्याय, श्लोक 39
21. धर्मामृत-सागार, तृतीय अध्याय, श्लोक 9, 12
22. धर्मामृत-सागार, पंचम अध्याय, श्लोक 55
23. धर्मामृत-सागार, अष्टम अध्याय, श्लोक 93
24. धर्मामृत-अनगार, प्रस्तावना, पृष्ठ 41
25. प्रतिष्ठा प्रदीप, पृष्ठ 221, संहितासूरी पं. श्री नाथूलालजी, इन्दौर
26. धर्मामृत-अनगार, प्रथम अध्याय, श्लोक 102।

- बी-369, ओ.पी.एम. कॉलोनी
अमराई पेपर मिल्स
जिला शहडोल (म.प्र.) 484117

▲▲▲

प्रज्ञापुरुषोत्तम पण्डित आशाधर का व्यक्तित्व और कर्तृत्व

— डॉ. आदित्य प्रचण्डिया

■

जैन दिगम्बर आम्नाय के बहुश्रुत, प्रतिभावंत जैनधर्म के निरूपमेय उद्योतक पण्डितप्रवर आशाधरजी ने न्याय, व्याकरण, काव्य, अलंकार, शब्दकोश, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, वैद्यक आदि विविध विषयों पर साधिकार, अस्खलित लेखनी चलाई तथा अनेक मनीषियों ने बहुत समय तक उनके निकट अध्ययन किया। उनका वैदुष्य जैन शास्त्रों तक ही सीमित नहीं था, इतर शास्त्रों में भी उनकी अबाधगति थी। अतएव उनकी रचनाओं में यथास्थान सभी शास्त्रों के प्रचुर उद्धरण दृष्टिगत हैं और इसीकारण अष्टांगहृदय, काव्यालंकार, अमरकोश जैसे ग्रंथों पर टीका लिखने में पण्डित आशाधर प्रवृत्त हुए। यदि वे मात्र जैनधर्म के ही मनीषी होते तो मालवनरेश अर्जुनवर्मा के गुरु बालसरस्वती महाकवि मदन उनके निकट काव्यशास्त्र का अध्ययन न करते और विन्ध्यवर्मा के सन्धि-विग्रह मंत्री कवीश विल्हण उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा न करते। विभिन्न आचार्यों और विद्वानों के मतभेदों का सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए उन्होंने जो प्रयत्न किया है वह अपूर्व है। पण्डित आशाधर सद्गृहस्थ थे, मुनि नहीं। कालान्तर में वे संसार से उपरत अवश्य हो गए थे, परन्तु उसे छोड़ा नहीं था। परवर्ती ग्रंथकारों ने उन्हें 'सूरि' और 'आचार्यकल्प' कहकर स्मरण किया है और तत्कालीन भट्टारकों और मुनियों ने तो उनके निकट

विद्याध्ययन करने में भी कोई संकोच नहीं किया है। साथ ही मुनि उदयसेन ने उन्हें 'नयविश्वचक्षु' तथा 'कलिकालिदास' और मदनकीर्ति यतिपति ने 'प्रज्ञापुंज' कहकर अभिनन्दित किया था। वादीन्द्र विशालकीर्ति को उन्होंने न्यायशास्त्र और भट्टारकदेव विनयचन्द्र को धर्मशास्त्र पढ़ाया था। वस्तुतः पण्डित आशाधरजी अपने समय के अभिवंदनीय प्रज्ञा पुरुषोत्तम थे।

ऋषितुल्य मनीषी पंडित आशाधर के पिताश्री का नाम सल्लक्षण एवं मातुश्री का नाम श्रीरत्नी था। उन्होंने बघेरवाल जाति का मुख उज्ज्वल किया था। 'सागारधर्मामृत' के अन्त में वे लिखते हैं -

व्याघ्रेरवालवरवंश सरोजहंसः काव्यामृतौघरसपान सुतप्त गात्रः।
सल्लक्षणस्य तनयो नय विश्वचक्षुराशाधरो विजयतां कलिकालिदासः॥

सपादलक्ष देश में मंडलकर (मेवाड़) नाम के नगर में पंडित आशाधर का जन्म हुआ था -

श्रीमानास्ति सपादलक्ष विषयः शाकंभरीभूषण-
स्तत्र श्री रतिधाम मण्डलकरं नामास्ति दुर्ग महत्।
श्री रत्यामुदपादि तत्र विमल व्याघ्रेरवालन्वयात्
श्री सल्लक्षणतो जिनेन्द्र समय श्रद्धालुराशाधारः॥

सपादलक्ष देश को भाषा में सवालख कहते हैं। प्राचीनकाल में 'कमाऊँ के' आसपास के देश को भी सपादलक्ष कहते थे। नागौर (जोधपुर) के निकट का प्रदेश सवालख के नाम से प्रसिद्ध है। इस देश में पहले चाहमान (चौहान) राजाओं का राज्य था। फिर सांभर और अजमेर के चौहान राजाओं का सारा देश सपादलक्ष कहलाने लगा था और उसके सम्बन्ध में चौहान राजाओं के लिए 'संपादलक्षीय नृपतिभूपति' आदि शब्द लिखे जाने लगे थे। पंडित आशाधर की स्त्री सरस्वती से छाहड़ नाम का एक पुत्र था जिसने धारा के तत्कालीन महाराजाधिराज अर्जुनदेव को अपने गुणों से मोहित कर रखा था। पंडितजी ने स्वयं लिखा है -

सरस्वत्यामिवात्मानं सरस्वत्यामजीजनत्।
कः पुत्रं छाहडं गुण्यं रंजितार्जुनभूपतिम्॥

अर्थात् जिस तरह सरस्वती के (शारदा के) विषय में मैंने अपने आपको उत्पन्न किया, उसी तरह से अपनी सरस्वती नाम की भार्या के गर्भ से अपने अतिशय गुणवान पुत्र छाहड़ को उत्पन्न किया। छाहड़ सरीखे गुणवान पुत्र को पाने का एक प्रकार से उन्हें अभिमान

था। वि.सं. 1249 के लगभग जब शहाबुद्दीन गौरी ने पृथ्वीराज को कैद करके दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया था और अजमेर पर भी अधिकार कर लिया था, तभी पण्डित आशाधर मांडलगढ़ (मेवाड़) छोड़कर धारानगरी में आए होंगे -

म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति-
त्रासाद्विन्ध्य नरेन्द्र दो परिमलस्फूर्ज त्रिवर्गोजसि।
प्राप्तो मालव मंडले बहुपरीवारः पुरीभावसत्
यो धारामपठज्जिन प्रमिति वाक्शास्त्रं महावीरतः॥

पण्डितप्रवर तत्समय किशोरावस्था के रहे होंगे क्योंकि उन्होंने व्याकरण और न्यायशास्त्र वहीं आकर पढ़ा था। आपके विद्यागुरु प्रसिद्ध विद्वान पंडित महावीर थे। यदि उस समय पण्डितप्रवर की उम्र पन्द्रह-सोलह वर्ष की रही हो तो उनकी जन्म वि.सं. 1235 के आसपास हुआ होगा। उनका अन्तिम उपलब्ध ग्रंथ 'अनगारधर्मामृत' की भव्य कुमुदचन्द्रिका टीका वि.सं. 1300 की है। उसके बाद वे कब तक जीवित रहे, यह पता नहीं लेकिन पैंसठ वर्ष की उम्र तो उन्होंने अवश्य प्राप्त की होगी, इतना तो तय है। विन्ध्य वर्मा, सुभट वर्मा, अर्जुन वर्मा, देवपाल, जैतुगिदेव नामक पाँच राजा पण्डित आशाधरजी के समकालीन थे।

पण्डितप्रवर आशाधर ने प्रचुर परिमाण में साहित्य की सर्जना की है। वे उच्चकोटि के कवयिता, व्याख्याता और मौलिक चिन्तना के स्वामी थे। उनके बीस ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, जिनका विवरण इस प्रकार है -

1. प्रमेयरत्नाकर

इस कृति को स्यादवाद विद्या का निर्मल प्रसाद बतलाया है। यह गद्य ग्रंथ है और बीच-बीच में इसमें सुन्दर पद्य भी प्रयुक्त हुए हैं।

2. भरतेश्वराभ्युदय

यह सिद्धयङ्क है अर्थात् इसके प्रत्येक सर्ग के अन्तिम वृत्त में 'सिद्धि' शब्द आया है। यह स्वोपज्ञटीका सहित है। इसमें प्रथम तीर्थंकर के पुत्र भरत के अभ्युदय का वर्णन होगा। यह सम्भवतः महाकाव्य है।

3. ज्ञानदीपिका

यह धर्मामृत (सागार-अनगार) की स्वोपज्ञपंजिका टीका है। कोल्हापुर के जैनमठ में इसकी एक कनड़ी प्रति थी, जिसका उपयोग स्व. पं. कल्लाण भरमाप्पा निटवे ने सागारधर्मामृत की मराठी टीका में किया था और उसमें टिप्पणी के तौर पर उसका

अधिकांश छपा दिया था। उसी के आधार से माणिकचन्द ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित सागारधर्मामृत सटीक में भी उसकी अधिकांश टिप्पणियाँ दे दी गई थीं। उसके बाद मालूम हुआ कि उक्त कनड़ी प्रति जलकर नष्ट हो गई।

4. राजीमती विप्रलम्भ

यह एक खण्डकाव्य है और स्वोपज्ञटीका सहित है। इसमें राजीमती के नेमिनाथ-वियोग का कथानक है।

5. अध्यात्म रहस्य

योगाभ्यास का आरम्भ करनेवालों के लिए यह बहुत ही सुगम योगशास्त्र का ग्रन्थ है। इसे उन्होंने अपने पिता के आदेश से लिखा था। योग से सम्बद्ध रहने के कारण इसका दूसरा नाम योगोद्दीपन भी है। कवि ने लिखा है -

आदेशात् पितुरध्यात्म-रहस्यं नाम यो व्यघात्
शास्त्रं प्रसन्न गम्भीर-प्रियमारब्धर्यागिनाम्।

अन्तिम प्रशस्ति इस प्रकार है - 'इत्याशाधर विरचित धर्मामृतनाम्नि सूक्ति-संग्रहे योगोद्दीपनो नामाष्टादशोऽध्यायः।' इस ग्रन्थ में बहत्तर पद्य हैं और स्वात्मा, शुद्धात्मा, श्रुतिमति, ध्याति, दृष्टि और सद्गुरु के लक्षणादि का प्रतिपादन किया है। इसके पश्चात् रत्नत्रयादि दूसरे विषय विवेचित हैं। इस 'अध्यात्मरहस्य' में गुण-दोष, विचार स्मरण आदि की शक्ति से सम्पन्न भावमन और द्रव्यमन का बड़ा ही विशद विवेचन किया है। योगाभ्यासियों और अध्यात्मप्रेमियों के लिए यह कृति उपादेय है।

6. मूलाराधना टीका

यह शिवार्य की प्राकृत आराधना की टीका है जो बहुत पहले सोलापुर से अपराजितसूरि और अमितगति की टीकाओं के साथ प्रकाशित हो चुकी है।

7. इष्टोपदेश टीका

आचार्य पूज्यपाद के सुप्रसिद्ध ग्रंथ की यह टीका माणिकचन्द्र जैन ग्रंथमाला के तत्वानुशासन संग्रह में प्रकाशित हो चुकी है।

8. भूपाल चतुर्विंशतिका टीका

भूपाल कवि के प्रसिद्ध स्तोत्र की यह टीका है।

9. आराधनासार टीका

यह आचार्य देवसेन के आराधनासार नामक प्राकृत ग्रंथ की टीका है।

10. अमरकोश टीका

यह सुप्रसिद्ध अमरकोश की टीका है। इसमें रचनाकार ने गूढ़ विषय को सरल ढंग से प्रस्तुत किया है।

11. क्रियाकलाप

मुम्बई के ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन में इस ग्रन्थ की एक प्रति है जिसमें बावन पत्र हैं और जो एक हजार नौ सौ छियत्तर श्लोकप्रमाण है। यह ग्रन्थ प्रभाचन्द्राचार्य के 'क्रियाकलाप' के ढंग का है। ग्रंथान्त में प्रशस्ति नहीं है। आरम्भ के दो पद्य इसप्रकार हैं -

जिनेन्द्रमुन्मूलित कर्मबन्धं प्रणम्य सन्मार्ग कृत स्वरूपं।
अनन्तबोधादिभवं गुणौघं क्रियाकलापं प्रकटं प्रवक्ष्ये॥ 1॥

योगिध्यानैक गम्यः परम विशददृग्विश्वरूपः सतच्च।
स्वान्तस्थे मैव साध्यं तदमलमतयस्तत्पदध्यान बीजं॥
चित्तस्थैर्ये विधातुं तदनवगुण ग्राम गाढ़ामरागं।
तत्पूजाकर्म कर्मच्छि दुरमति यथासूत्रमासूत्रयन्तु॥ 2॥

12. काव्यालंकार टीका

अलंकार शास्त्र से सुप्रसिद्ध आचार्य रुद्रट के काव्यालंकार पर यह टीका लिखी गई है।

13. सहस्त्रनामस्तवन सटीक

पण्डित आशाधर का सहस्त्रनाम स्तोत्र सर्वत्र सुलभ है।

14. जिनयज्ञकल्पटीका

'जिनयज्ञकल्प' का दूसरा नाम प्रतिष्ठासारोद्धार है। यह पण्डित मनोहरलालजी शास्त्री द्वारा सं. 1972 में प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रंथ को पण्डित आशाधरजी ने अपने धर्मामृत शास्त्र का एक अंग बतलाया है। प्रतिष्ठा विधि का सम्यक् प्रतिपादन करने के लिए पण्डितप्रवर आशाधर ने छह अध्यायों में जिनयज्ञकल्प-विधि को समाप्त किया है। प्रथम अध्याय में मन्दिर के योग्यभूमि, मूर्तिनिर्माण के लिए शुभ पाषाण, प्रतिष्ठायोग्य मूर्ति, प्रतिष्ठाचार्य, दीक्षागुरु यजमान, मण्डपविधि, जलयात्रा, यागमण्डल-उद्धार आदि विषयों का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में तीर्थजल लाने की विधि, पंचपरमेष्ठि पूजा, अन्य देव पूजा, जिनयज्ञादि विधि, सकलीकरण क्रिया, यज्ञदीक्षा विधि, मण्डप प्रतिष्ठा विधि और वेदी प्रतिष्ठा विधि वर्णित हैं। तृतीय अध्याय में यागमण्डल की पूजा-विधि और यागमण्डल में पूज्य देवों का कथन किया है। चतुर्थ अध्याय में प्रतिष्ठेय प्रतिमा का स्वरूप

अर्हन्त प्रतिमा की प्रतिष्ठा विधि, गर्भकल्याणक की क्रियाओं के अनन्तर जन्मकल्याणक, तपकल्याणक, नेत्रोन्मीलन, केवलज्ञानकल्याणक और निर्वाणकल्याणक की विधियों का वर्णन आया है। पंचम अध्याय में अभिषेक विधि, विसर्जन विधि, जिनालय प्रदक्षिणा, पुण्याहवाचन, ध्वजारोहण-विधि एवं प्रतिष्ठाफल का कथन आया है। षष्ठ अध्याय में सिद्धप्रतिमा की प्रतिष्ठा विधि बृहदसिद्धचक्र और लघु सिद्धचक्र का उद्धार, आचार्य-प्रतिष्ठा-विधि, श्रुतदेवता प्रतिष्ठा विधि एवं यक्षादि की प्रतिष्ठाविधि का वर्णन है। अध्यायान्त में ग्रंथकर्त्ता की प्रशस्ति अंकित है। परिशिष्ट में श्रुतपूजा, गुरुपूजा आदि संगृहीत हैं।

15. त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र सटीक

यह ग्रन्थ माणिकचन्द्र ग्रंथमाला में मराठी अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रंथ में तिरेसठ शलाका पुरुषों का संक्षिप्त जीवन परिचय आया है। चालीस पद्यों में तीर्थंकर ऋषभदेव का, सात पद्यों में अजितनाथ का, तीन पद्यों में सम्भवनाथ का, तीन पद्यों में अभिनन्दननाथ का, तीन में सुमतिनाथ का, तीन में पद्मप्रभ का, तीन में सुपार्श्वजिन का, दस में चन्द्रप्रभ का, तीन में पुष्पदन्त का, चार में शीतलनाथ का, दस में श्रेयांस तीर्थंकर का, नौ में वासुपूज्य का, सोलह में विमलनाथ का, दस में अनन्तनाथ का, सत्रह में धर्मनाथ का, इक्कीस में शान्तिनाथ का, चार में कुंथनाथ का, छब्बीस में अरहनाथ का, चौदह में मल्लिनाथ का और ग्यारह में मुनिसुव्रत का जीवनवृत्त वर्णित है। इसी संदर्भ में राम-लक्ष्मण की कथा भी इक्यासी पद्यों में वर्णित है। तदनन्तर इक्कीस पद्यों में कृष्ण-बलराम, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि के जीवनवृत्त आये हैं। नेमिनाथ का जीवनवृत्त भी एक सौ एक पद्यों में श्रीकृष्ण आदि के साथ वर्णित है। अनन्तर बत्तीस पद्यों में पार्श्वनाथ का जीवन अंकित किया गया है। पश्चात् बावन पद्यों में महावीर पुराण का अंकन है। तीर्थंकरों के काल में होने वाले चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि का भी कथन आया है। ग्रंथान्त में पन्द्रह पद्यों में प्रशस्ति अंकित है। ग्रंथ-रचनाकाल का निर्देश करते हुए लिखा है -

नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत्
ग्रन्थोऽयं द्वि न वद्धयेक विमार्कसमात्यये॥

अर्थात् वि.सं. 1291 में इस ग्रन्थ की रचना की है।

16. नित्यमहोद्योत

यह स्नान शास्त्र या जिनाभिषेक बहुत पहले पण्डित पन्नालालजी सोनी द्वारा सम्पादित 'अभिषेक पाठ संग्रह' में श्री श्रुतसागर सूरि की संस्कृत टीका सहित प्रकाशित हो चुका है।

17. रत्नत्रय विधान

यह छोटा सा आठ पत्रों का ग्रंथ मुम्बई के ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन में है। इसका मंगलाचरण इस प्रकार है -

श्री वर्धमान मानभ्य गौतमार्दींश्च सद्गुरून।
रत्नत्रयविधिं वश्ये यथाम्नायां विमुक्तये॥

18. अष्टांगहृदयोद्योतिनी टीका

यह आयुर्वेदाचार्य वाग्भट के सुप्रसिद्ध ग्रंथ वाग्भट या अष्टांगहृदय की टीका है।

19-20. सागार और अनगार धर्मामृत की भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका

यह टीका पृथक्-पृथक् दो जिल्दों में प्रकाशित हो चुकी है। डॉ. नेमीचन्द्र जैन कहते हैं - ''पण्डित आशाधर ने 'धर्मामृत' ग्रन्थ लिखा है जिसके दो खण्ड हैं - अनगारधर्मामृत और सागारधर्मामृत।'' अनगारधर्मामृत में मुनिधर्म का वर्णन आया है तथा मुनियों के मूलगुण और उत्तरगुणों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। पण्डितप्रवर आशाधर विषयवस्तु के लिए मूलाचार के ऋणी हैं। इन दोनों ग्रंथों में श्रमण और श्रावक दोनों की चर्याओं का वर्णन किया है।

इस प्रकार पण्डितप्रवर आशाधरजी के वर्तमान में तीन सुलभ ग्रंथ - 'जिनयज्ञकल्प' वि.सं. 1285 में, 'सागारधर्मामृत टीका' वि.सं. 1296 में और 'अनगारधर्मामृत टीका' वि.सं. 1300 में रचे गए। 'जिनयज्ञकल्प' की प्रशस्ति में जिन दस ग्रन्थों के नाम दिए हैं, वे वि.सं. 1285 के पहले के बने हुए होने चाहिए। उसके बाद 'सागारधर्मामृत' टीका की समाप्ति तक अर्थात् वि.सं. 1296 तक काव्यालंकार टीका, सटीक सहस्रनाम, सटीक जिनयज्ञकल्प, सटीक त्रिषष्टि स्मृति और नित्यमहोद्योत - ये पाँच ग्रन्थ बने। अन्त में वि.सं. 1300 तक राजीमती विप्रलम्भ, अध्यात्मरहस्य, रत्नत्रय विधान और अनगारधर्म टीका की रचना हुई। त्रिषष्टि स्मृति की प्रशस्ति से मालूम होता है कि वह वि.सं. 1392 में बना है। इष्टोपदेश टीका में समय नहीं दिया है।

समग्रत: पण्डितप्रवर आशाधर अनेक विषयों के विद्वान होने के साथ-साथ असाधारण कवि थे। उनका व्यक्तित्व इतना सरल और सहज था, जिससे तत्कालीन मुनि और भट्टारक भी उनका शिष्यत्व स्वीकारने में गौरव का अनुभव करते थे। उनकी लोकप्रियता की सूचना उनकी उपाधियाँ ही दे रही हैं। वस्तुत: प्रज्ञापुरुषोत्तम पण्डितप्रवर आशाधर का जैनदर्शन सम्बन्धी ज्ञान अगाध था। उनकी कृतियों की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह प्रत्येक बात को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि पाठक पढ़ते-पढ़ते अध्यात्म रस में गोते लगाने लगता है। अध्यात्म का वर्णन प्राय: नीरस होता है पर पण्डितजी की यह महनीय

विशेषता रही है कि वह काव्य शक्ति के द्वारा नीरस विषय को भी सरस बनाकर प्रस्तुत करते हैं। निश्चय और व्यवहार का निरूपण वे जिस सशक्त शैली में करते हैं, उससे उनका गम्भीर पाण्डित्य तो झलकता ही है, साथ ही विषय पर पूर्ण अधिकार भी उजागर होता है। प्रज्ञापुरुषोत्तम पण्डित प्रवर आशाधर अध्यात्मजगत के एक दिव्य नक्षत्र थे जिनकी दीप्रप्रभा से आज भी आलोक विकीर्ण है।

- मंगलकलश
394, सर्वोदयनगर, आगरा रोड
अलीगढ़-202001 (उ.प्र.)

▲▲▲

पण्डित आशाधरजी द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली और उनकी विवेचना

— डॉ. संजीव प्रचण्डिया 'सोमेन्द्र'

जैन साहित्य और संस्कृति को भारतीय साहित्य का मूलभूत अंग माना गया है। भारत में संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश में सहस्राधिक रचनाएँ रची गयी हैं और इन सभी भाषाओं में रची गयी रचनाओं से हिन्दी साहित्य की अहम वृद्धि हुई है। महाकवि पण्डित आशाधरजी ने भी विविध विधाओं में रचना रची है। ये तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के लब्ध-प्रतिष्ठित कवि थे। इन्होंने अनेक कृतियों की रचना की जिनमें कुछ इस प्रकार हैं - सागार धर्मामृत, जिनयज्ञकल्प, अनगार धर्मामृत, प्रमेय रत्नाकर, भरतेश्वराभ्युदय, ज्ञान दीपिका, राजीमती विप्रलंभ, आध्यात्म रहस्य, भूपाल चतुर्विंशतिका टीका, आराधनासार टीका, सहस्रनामस्तवन, क्रियाकलाप आदि। इन सभी रचनाओं की विषयवस्तु जैन संस्कृति और साहित्य है। पण्डित आशाधरजी ने अनेक पारिभाषिक शब्दावलियों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। कुछेक शब्दों को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर उनके द्वारा दी गयी अभिव्यक्ति की हम यहाँ चर्चा करना चाहेंगे।

परमेष्ठि - 'परमेष्ठि' शब्द यौगिक शब्द है। परम + इष्ठ, परम अर्थात् मुख्य, इष्ठ (इष्ट) अर्थात् आराध्य। मूल आराध्य। जैनधर्म में व्यक्ति की पूजा नहीं की गई है। यहाँ गुणों की उपासना की गई है।[1] इस दृष्टि से जैन साहित्य में पंच परमेष्ठी[2] - अरहन्त,

सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और लोक के सर्व साधु की आराधना की गई है। अरहन्त - जिसने अपने चार घातिया कर्मों को समाप्त कर दिया है। सिद्ध - जिसने अपने चार घातिया और चार अघातिया कर्मों को समाप्त कर दिया है।[3] आचार्य - जो दीक्षा देते हैं और संघ पर अनुशासन करते हैं तथा समय और साधन की उपयुक्त व्यवस्था करते हैं। उपाध्याय - जिनके पास जाकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए शास्त्रों का अध्ययन किया जाता है।[4] साधु वह है जो चिरकाल से जिन दीक्षा में प्रव्रजित हो चुका है।[5] गूढ़ अर्थ में यदि देखा जाये तो पण्डित आशाधरजी ने परमेष्ठि शब्द की व्युत्पत्ति 'जिन सहस्रनाम' में की है। उन्होंने परमेष्ठि को परम पद शुद्ध आत्मा ही माना है।[6] आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्षपाहुड में परमेष्ठी शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है - अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, मेरी आत्मा में ही प्रकट हो रहे हैं, अतः आत्मा ही मुझे शरण है।[7] उन्होंने आगे कहा कि परमेष्ठि वह है जो मलरहित (अर्थात् अठारह दोषों से शुद्ध होना), शरीररहित अनिंद्रिय, केवलज्ञानी, विशुद्धात्मा, परम जिन हो।[8]

तीर्थंकर - तीर्थंकर तीर्थ की रचना करते हैं। तीर्थ वह तट है जहाँ से भवसमुद्र से तिरा जाता है, मुक्त हुआ जाता है,[9] इसीलिए संसाररूपी समुद्र से तिरानेवाले घाट को तीर्थ कहते हैं।[10]

'तीर्थ करोति तीर्थंकरः' से स्पष्ट है कि तीर्थ को करनेवाला तीर्थंकर कहलाता है।[11] जबकि पण्डित आशाधरजी 'जिन सहस्रनाम' में यह भी कहते हैं कि तीर्थ, तीर्थंकर की देन है जिसको आचार्य श्रुतसागर ने रत्नत्रय को तीर्थ की संज्ञा देकर स्पष्ट कर दिया है।[12] उनके अनुसार बिना रत्नत्रय धारण किये संसार से छुटकारा नहीं हो सकता।

धर्मश्चारित्रं स एव तीर्थः तं करोति धर्म तीर्थंकरः[13]

अतः एक ही लक्ष्य को प्राप्त करते हुए भी मुनि और तीर्थंकर में भेद होता है। तीर्थंकर सदैव मौलिक मार्ग का स्रष्टा होता है। मुनि परम्परा का अनुयायी होता है। इसीकारण तीर्थंकर के आगे धर्मचक्र चलता है।[14]

पंचकल्याणक - तीर्थंकर नाम-कर्म के उदय से तीर्थंकर पद मिलता है।[15] इसीलिए तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष ये पंचकल्याणक होते हैं।[16] तीर्थंकर की माँ को सोलह स्वप्न दिखायी देते हैं जो उनके विशिष्ट व्यक्तित्व की व तीर्थंकर होने की सूचना देते हैं।[17]

निर्वाण - 'निःपूर्वक 'वो' धातु से निर्मित शब्द निर्वाण है, जिसका अर्थ है - बुझा देना। जैनधर्म में आत्मा कभी बुझती नहीं है किन्तु समूचे कर्मों के क्षय हो जाने से एक नया रूप धारण कर लेती है। अतः यहाँ बुझा देना क्रिया, संसार और कर्मों से जुड़ी अवस्था

है। निर्वात् आत्मा एक उस चिरन्तन सुख में निमग्न हो जाती है जिसे छोड़कर उसे पुनः जगत में भ्रमण करने नहीं आना होता।[18] समूचे कर्मों से छुटकारा होना 'मोक्ष' है - 'कृत्स्न कर्म विप्रमोक्षो मोक्षः'[19] और सब कर्मों का बुझ जाना 'निर्वाण' है।[20]

अर्हंत - अर्हंत सकल परमात्मा कहलाते हैं। उनके शरीर होता है। वे दिखायी देते हैं। सिद्ध निराकार हैं, उनके कोई शरीर नहीं होता। उन्हें हम देख नहीं सकते। सिद्धों ने पूर्णता प्राप्त कर ली है इसीलिए वे घट-बढ़ से पृथक् हैं। अर्हंत अभी मोक्ष नहीं हुए हैं। सिद्ध मुक्त हो गये हैं। सिद्ध अर्हंतों के लिए भी पूज्य है।[21]

सिद्ध - आठ कर्मोंरहित, आठ गुणों से युक्त परिसमाप्तकार्य और मोक्ष में विराजमान जीव सिद्ध कहलाते हैं।[22] आचार्य पूज्यपाद के अनुसार आठ कर्मों के नाश से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है, उसे ही सिद्ध कहते हैं। ऐसी सिद्धि करनेवाला ही सिद्ध कहलाता है।[23] इसीप्रकार आचार्य पण्डित आशाधरजी ने 'सिद्ध' की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है "सिद्धिःस्वात्मोपलब्धिः संजाता यस्येति सिद्ध" अर्थात् स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि जिसको प्राप्त हो गयी है, वह ही सिद्ध है।[24] श्री योगिन्दु ने शुक्ल ध्यान से अष्ट कर्मों को समाप्त कर मोक्ष पाने की स्थिति को सिद्ध कहा है।[25]

योगी - पण्डित आशाधरजी ने योगी शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है - 'योगो ध्यान सामग्री अष्टाङ्गानि विद्यन्ते यस्य स योगी' अर्थात् अष्टांग योग को धारण करनेवाला योगी कहलाता है।[26] योग शब्द 'युज' धातु से बना है जिसका अर्थ है समाधि से जुड़ना। 'आत्म रूपे स्थीयते जलभृतघटवत् निश्चलेन भूयते स समाधिः' अर्थात् जलभरे घड़े के समान निश्चल होकर आत्मस्वरूप में अवस्थित होने को समाधि कहते हैं।[27] साम्य, समाधि, स्वास्थ्य, योग, चित्त-निरोग और शुद्धोपयोग आदि सभी का तात्पर्य योगी से है।[28] 'योगी शतक' में उन्होंने भगवान जिनेन्द्र को योगी माना है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है - "योगीनां ध्यानिनामिन्द्रः स्वामी" - हे भगवान, आप योगीन्द्र है क्योंकि आप योगियों अर्थात् ध्यानियों के इन्द्र हैं।[29]

स्तवन - "संस्तवनं संस्तव" अर्थात् सम्यक प्रकार से स्तवन करना ही संस्तव कहलाता है। षड् आवश्यक में चौबीस तीर्थंकरों की प्रशंसा करने को ही स्तव कहा है।[30] मूलाचार में स्तव या स्तवन के छह भेद कहे गये हैं - नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। पण्डित आशाधरजी ने भी अपने अनगार धर्मामृत के आठवें अध्याय में स्तवन के ये ही छह भेद बताये हैं।[31]

श्रुत - ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर उद्दित जिसके प्रभाव से सुना जा सके श्रुत कहलाता है। इसीलिए आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्द्ध सिद्धि में कहा है कि वे ही शास्त्र श्रुत

कहलाते हैं जिनमें भगवान की दिव्य ध्वनि का प्रतिनिधित्व हुआ हो। श्रुत की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा है कि आत्मा ज्ञानरूप है, और श्रुत भी एक ज्ञान है। अत: श्रुतज्ञान भी आत्मा को जानने में पूर्णरूप से समर्थ है।[32] पण्डित आशाधरजी के अनुसार श्रुतज्ञान और केवलज्ञान में केवल परोक्ष और प्रत्यक्ष कृत भेद हैं, सभी पदार्थों की विषय करने की अपेक्षा दोनों समान हैं।[33] तीर्थंकर महावीर के उपरान्त हुए तीन केवली और पाँच श्रुतकेवली, श्रुतधर कहलाते हैं। भगवान महावीर के प्रमुख गणधर गौतमस्वामी भी केवली ही थे। आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में लिखा है -

श्रुत स्कन्धनभश्चन्द्रं संयम श्री विशेषकम्।
इन्द्रभूति नमस्यामि योगीन्द्रं ध्यान सिद्धये॥

अर्थात् जो श्रुत-स्कन्धरूपी आकाश में चन्द्र के समान हैं, संयम श्री को विशेषरूप से धारण करनेवाले हैं, ऐसे योगीन्द्र इन्द्रभूति गौतम को मैं ध्यान-सिद्धि के लिए नमस्कार करता हूँ। द्वादशात्मा होने के कारण भगवन जिनेन्द्र भी श्रुतधर कहलाते हैं। पण्डित आशाधरजी ने उन्हें 'गुरुश्रुति' और 'श्रुत-पूत' जैसे विशेषणों से सुशोभित किया है। इसका अर्थ है कि भगवान की दिव्य ध्वनि ही श्रुत है जिसके द्वारा भव्य प्राणी मोक्ष जाने में समर्थ है।

ऐसे ही अन्य अनेक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग पण्डितप्रवर श्री आशाधरजी ने अपनी लेखनी में किया है जिससे उनकी रचनाधर्मिता और साधना का बोध होता है। जैनधर्म, संस्कृति और साहित्य के विविध पहलुओं पर उनका सीधा-सीधा प्रभाव प्राय: दिखायी देता है। सीधे और सपाट बयानगी में वे पीछे नहीं रहे हैं।

---

1. 'दश द्वार भव-भव पार' - डॉ. महेन्द्रसागर प्रचंडिया, जै.शो. अकादमी प्रकाशन, अलीगढ़
2. णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।
3. पण्डित आशाधर, जिनसहस्रनाम, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी वि.सं. 2010, 2/23 की स्वोपज्ञवृत्ति, पृष्ठ 65।
4. 'मोक्षार्थ शास्त्र मुपेत्य त स्मादधीयत इत्युपाध्याय:' आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि.सं. 2012, 9/24 का भाष्य, पृष्ठ 442।
5. वही पृष्ठ 442-43।
6. पण्डित आशाधर, जिनसहस्रनाम, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि.सं. 2010, 2/23 की स्वोपज्ञवृत्ति, पृष्ठ 65।

7. ''अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठी।
ते विहुं चिट्ठहि आधे तम्हा आदा हु मे सरणं॥''
आचार्य कुन्दकुन्द, अष्टपाहुड, श्री पाटनी दि. जैन ग्रन्थमाला मारौठ, मारवाड़, मोक्षपाहुड़, 104वीं गाथा।
8. वही, 6ठी गाथा।
9. तीर्थंकर भ. महावीर - (डॉ.) संजीव प्रचंडिया, सम्पादक - अहिंसावाणी, अंक अप्रेल 1969, जैन भवन, अलीगढ़ (एटा)।
10. जैनभक्त काव्य की पृष्ठभूमि, डॉ. प्रेमसुमन जैन, भारतीय ज्ञानपीठ सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण 1963, पृष्ठ 105।
11. पण्डित आशाधरजी, जिनसहस्रनाम, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन 1954, 4/47 की स्वोपज्ञवृत्ति, पृष्ठ 78।
12. पण्डित आशाधर, जिनसहस्रनाम वही, 4/47 तथा 4/48, पृष्ठ 78।
13. वही श्रुतसागरी टीका, पृष्ठ 165
14. जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि - डॉ. प्रेमसागर जैन
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्कण 1963, पृष्ठ 106।
15. 'यदि दं तीर्थंकर नाम कर्मानत्रानुपम प्रभावम चिन्त्य विभूति विशेषकारणं त्रैलोक्य विजयकरं तस्यास्त्रत्रवविधि विशेषोऽस्तीति।
- आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, पृष्ठ 337-338।
16. गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष - ये पाँच कल्याणक होते हैं तथा उन अवसरों पर मनाये जाने वाले उत्सव को 'पंचकल्याणक महोत्सव' कहते हैं। पण्डित आशाधर, जिन सहस्रनाम, 3/33 की स्वोपज्ञवृत्ति, पृष्ठ 70-71।
17. 16 स्वप्न - ऐरावत हाथी, वृषभ, लक्ष्मी, सिंह, पूर्णचन्द्र, दो पुष्प मालाएँ, स्वर्ण के दो कलश, उदित होता हुआ सूर्य, तालाब में क्रीड़ा करती हुई दो मछलियाँ, ऊँचा सिंहासन, क्षुभित समुद्र, सुन्दर तालाब, स्वर्ग का विमान, पृथ्वी को भेदकर ऊपर आया हुआ नागेन्द्र भवन, रत्नों की राशि और जलती हुई धुआँ रहित अग्नि - देखिए महापुराण, प्रथम भाग, 12/104-119, पृष्ठ 259-260।
18. 'निर्वाति स्म निर्वाण : सुखीभूत: अनन्त सुखं प्राप्त:।'
पण्डित आशाधर, जिनसहस्रनाम, वही, पृष्ठ 98।
19. उमास्वाति, तत्वार्थ सूत्र, मथुरा, 10/2, पृष्ठ 23।
20. जैन भक्त काव्य की पृष्ठभूमि - डॉ. प्रेमसुमन जैन, भारतीय ज्ञानपीठ सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण-1963, पृष्ठ 124।
21. पण्डित आशाधर, जिनसहस्रनाम, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1954, 4/47 की स्वोपज्ञवृत्ति, पृष्ठ 78।

22. ''अट्ठ विह कम्म मुक्के अट्ठगुणढ़े अणोवमे सिद्धे।
अट्ठम पुढविणि विट्ठे णिट्ठे यकज्जे य वंदियो णिच्चं॥''
- दश भक्ति, प्रभाचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका, तात्यागोपाल शेटे प्रकाशित, शोलापुर 1921 ई., पहली गाथा, पृ. 46।

23. सिद्धानुद्धत कर्म प्रकृति समुदयान्साधितात्म स्वभावान्।
वन्दे सिद्धि प्रसिद्धयै तदनुपम गुण प्रग्रहा कृष्टि तुष्टः॥''
आचार्य पूज्यपाद, सिद्धिभक्ति, पहला श्लोक, पृष्ठ 27।

24. पण्डित आशाधर, जिनसहस्रनाम, स्वोपज्ञवृत्ति और श्रुतसागर सूरी की टीका - पण्डित हीरालाल जैन, सम्पादक, हिन्दी भाषा अनूदित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि.सं. 2010, 10/139 की स्वोपज्ञवृत्ति, पृष्ठ 139।

25. योगेन्दु, परमात्मप्रकाश, श्री ए.एन. उपाध्याय, सम्पादक, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, मुम्बई 1937, 1/4 पृष्ठ 10।

26. पण्डित आशाधरजी, जिनसहस्रनाम, स्वोपज्ञवृत्ति, 6/72, पृष्ठ 90।

27. पण्डित आशाधरजी जिनसहस्रनाम स्वोपज्ञवृत्ति, वही, पृष्ठ 182।

28. अमरकीर्ति के भाष्यसहित, पं. शम्भूनाथ त्रिपाठी, सम्पादक - भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि.सं. 2007, तीसरा पद्य, पृष्ठ 2।

29. पण्डित आशाधर, जिनसहस्रनाम, भारतीय ज्ञानपीठ, फरवरी 1954, 6/75 की स्वोपज्ञवृत्ति, पृष्ट 92।

30. Bimal Charan Law, Some Jain Canonical Sutras, Royal Asiatic Society, Mumbai, 1949, A.D. P. 148.

31. पण्डित आशाधरजी, अनगार धर्मामृत, आठवाँ अध्याय।

32. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, श्री पाटनी दि. जैन ग्रंथमाला, मारौठ, 1953, 10वीं गाथा, पृष्ठ 21।

33. पण्डित आशाधर, जिनसहस्रनाम, भारतीय ज्ञानपीठ, 1954, 8/54, हिन्दी अनुवाद।

34. पण्डित आशाधरजी, वही।

- मंगल कलश
394, सर्वोदय नगर, आगरा रोड
अलीगढ़-202 001

▲▲▲

पण्डित आशाधर एवं उनका त्रिषष्टिस्मृति शास्त्र

— प्रो. एल. सी. जैन एवं ब्र. संजय जैन

■

भूमिका

पण्डित आशाधर बघेरवाल जाति के जैन थे। वे प्रसिद्ध धारा नगरी के समीप नलकच्छपुर (नालछा) के निवासी थे। विक्रम की तेरहवीं सदी के उत्तरार्द्ध और चौदहवीं सदी के प्रारंभ में असाधारण प्रतिभासम्पन्न विद्वान थे। उन्होंने लगभग 19 ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें से कई प्राप्त और प्रकाशित हैं तथा कुछ अब तक अनुपलब्ध हैं। इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय उनके न्याय, व्याकरण, काव्य, साहित्य, धर्मशास्त्र, वैद्यक आदि विविध विषयों पर अधिकार पूर्ण ग्रन्थ देते हैं। काव्य ग्रन्थों में भरतेश्वराभ्युदय काव्य स्वोपज्ञटीका सहित, राजीमती विप्रलम्भ तथा त्रिषष्टि स्मृति शास्त्र हैं। इनके ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ परमारवंशी राजाओं के इतिहास-काल जानने के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं। शेष ग्रन्थ श्रावक-मुनि-आचार, स्तोत्र, पूजा, विधान तथा टीकाओं के रूप में हैं। त्रिषष्टिस्मृति ग्रन्थ के अन्त में जो प्रशस्ति दी गयी है उसके अनुसार उक्त ग्रन्थ की रचना परमार नरेश जैतुगिदेव के राज्यकाल में विक्रम संवत् 1292 में नलकच्छपुर के नेमिनाथ मन्दिर में हुई थी।

जीवन

पण्डित आशाधर को 'भवाङ्गभोगेषु निर्विण्ण' और 'दु:खमीलक' कहा जाता है। फिर भी उन्होंने गृहस्थ रहते हुए ही स्व-पर कल्याण की जीवनोपयोगी प्रवृत्ति को अङ्गीकार किया। यद्यपि उन्होंने निर्ग्रन्थ मुनि लिङ्ग धारण नहीं किया, श्री मोतीलाल ने कहा है कि फिर भी उन्होंने समसामयिक मुनियों से भी अधिक जैनधर्म-साहित्य की सेवा और प्रभावना की।

उनका साहित्य-निर्माण ही इस तथ्य का बोधक है कि वे अपने समय के सर्वाधिक उद्भट विद्वान थे और सम्भवत: दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में उनके पश्चात् उनकी योग्यता एवं क्षमतावाला तत्वतलस्पर्शी विद्वान, कम से कम ग्रंथकर्त्ता के रूप में तो दुर्मिल ही है। उनके पास अनेक मुनि भट्टारकों ने और अन्य अजैन, जैनेतर विद्वानों तक ने ग्रन्थाध्ययन किया था।

वे अपने बाद विविध विषयों पर विशाल साहित्य छोड़ गये हैं। इन सभी का उल्लेख उनके ग्रंथों की अनन्य प्रशस्तियों में प्राप्त होता है। उसका अधिकांश अभी तक अप्रकाशित है, तथा अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अभी तक पता ही नहीं चल सका है। इससे सिद्ध होता है कि समाज द्वारा जैन साहित्य की जो रखरखाव की शैली थी वह दोषपूर्ण रही।

उनके अनुपलब्ध ग्रंथों में मुख्यत: निम्नलिखित ग्रंथ हैं - भरताभ्युदयचम्पू, राजीमती-विप्रलम्भ (काव्य), अष्टांगहृदयोद्योतिनी (वाग्भट के सुप्रसिद्ध वैद्यक ग्रंथ की टीका), धर्मामृत की पंजिका टीका, प्रमेयरत्नाकर (न्याय), अध्यात्म रहस्य, अमरकोष टीका, रुद्रट के काव्यालंकार की टीका। शोध संस्थानों को इनकी खोज और प्रकाशन अपने हाथ में लेना चाहिए।

पण्डित मोतीलाल ने पण्डित आशाधर के त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र ग्रंथ की टीका मराठी भाषा में की है। प्रस्तावना में उन्होंने पण्डित आशाधर के श्लोक से प्रारम्भ किया है -

धर्मामृतमयीं वृद्धिंकृत्वा भव्येषु निर्वृतः।
तं पार्श्वताप मूर्च्छाभूमार्यां पर्युपारमहे॥

उन्होंने पण्डितजी को सरस्वती पुत्र कहते हुए उनके ग्रन्थों को संस्कृत के वैदिक साहित्य से भी उच्चतर होने को अतिशयोक्ति नहीं कहा है। उनका जन्म-स्थान मेवाड़ राज्य के अन्तर्गत माँडलगढ़ नगर बतलाया है जो नागौर के पास सपावलक्षर (सवालाख) देश में बतलाया गया है। बादशाह शहाबुद्दीनकृत अत्याचार के भय से पण्डित आशाधरजी देश छोड़कर वि.सं. 1249 में मालव देश की धारानगरी में जा बसे थे। उस समय वहाँ के राजा विन्ध्यवर्मा के मंत्री विल्हण ने उनका सत्कार किया। उनके उत्तराधिकारी पुत्र,

सुभटवर्मा के सिंहासनारूढ़ होने पर वे वहाँ से 10 मील दूर नलगच्छ ग्राम में बस गये थे। उनके पिता का नाम सल्लक्षण (सलखण) और माता का नाम श्री रत्नी था। धारा में पण्डित महावीर ने उन्हें व्याकरण पढ़ाया था। उनके शिष्यों में पण्डित देवचन्द्र, मुनि वादीन्द्र, विशाल कीर्ति, भट्टारक देवभद्र, विनयभद्र, मदनकीर्ति (उपाध्याय), उदयसेन मुनि उल्लेखनीय हैं। नलकच्छपुर में उन्होंने 35 वर्ष व्यतीत किये थे।

उनकी प्रशंसा करनेवालों में मुख्यतः मंत्री विल्हण, मुनि उदयसेन जिन्होंने उनके शास्त्रों को प्रामाणिक बताकर उनका अभिनन्दन किया है, उपाध्याय मदनकीर्ति जैसे शिष्यों ने उनकी स्तुति भी की है। उनके और भी ग्रन्थों में क्रियाकलाप, व्याख्यालंकार टीका, वाग्भट संहिता, भव्यकुमुदचन्द्रिका, इष्टोपदेश टीका, ज्ञानदीपिका, अनगार धर्मामृत, मूलाराधना, सागारधर्मामृत, भूपाल चतुर्विंशतिका टीका, जिनयज्ञ काव्य, प्रतिष्ठापाठ, सहस्रनाम स्तव, रत्नत्रय विधान टीकादि संस्कृत ग्रन्थ हैं।

पण्डित आशाधर की पत्नी का नाम सरस्वती था जो सुील एवं सुशिक्षिता थीं। उनके पुत्र का नाम छाहड़ था। यह परिचय उन्होंने स्वपरिचय रूप में सागार धर्मामृत में दिया है-

व्याघ्रेरबालवरवंशसरोज हंसः
काव्यामृतौघरस पान सुतृप्तगात्रः।
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षु-
राशाधरो विजयतां कलिकालिदासः॥

उदयसेन ने उन्हें 'नयविश्वचक्षु' एवं 'कलिकालिदास' कहा है। मदनकीर्ति यतिपति ने उन्हें 'प्रज्ञापुञ्ज' कहा है। स्वयं गृहस्थ होने पर भी अनेक मुनि, भट्टारकों ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया है, यथा -

यो द्राग्व्याकरणाब्धिपारमनयच्छुश्रुषमाणान्नकान्।
षटतर्कीपरमास्त्रमप्य न यतः प्रत्यर्थिनः केऽक्षिपन्॥
चेरुः केऽस्खलितं न येन जिनवाग्दीपं पथि ग्राहितोः।
पीत्वा काव्य सुधां यतश्च रसिकेष्वापुः प्रतिष्ठां न के॥

उन्होंने वादीन्द्र विशालकीर्ति को षड्दर्शनन्याय, देवचन्द्र को धर्मशास्त्र एवं मदनोपाध्याय को काव्य में पारंगत कर दिया था। मंत्री विद्यापति विल्हण ने पण्डित आशाधर की रचनाओं पर विमुग्ध हो लिखा था -

आशाधरत्वंमयि विद्धि सिद्धं निसर्ग सौन्दर्यमजर्यमार्यं।
सरस्वती पुत्रतया यदेतदर्थे परं वाच्यमयं प्रपञ्च॥

अपने पिता के आदेश पर यथा - ''आदेशात पितुरध्यात्म-रहस्यं नामयो व्यधात्। शास्त्रं प्रसन्न-गम्भीर-प्रियमारब्धयोगिनाम'', उन्होंने योगोद्यीपन अश्वा अध्यात्मरहस्य नामक 72 पद्य की रचना स्वात्मा, शुद्धात्मा, श्रुतिमति, ध्याति, दृष्टि और सद्गुरु के लक्षणों आदि का प्रतिवादन करते हुए की थी।

त्रिषष्टिस्मृति शास्त्र - इस ग्रन्थ का शीर्षक ही अत्यन्त उद्बोधक है। जहाँ स्मृतियाँ वैदिक साहित्य का स्मरण कराती है, श्रुति का महत्व और परम्परा इंगित करती है, वहीं शास्त्र का भी रहस्यमयी संकेत अनेक प्रकार के शास्त्रों से मिलता है, यथा - कल्पशास्त्र, निमित्तशास्त्र। ज्योतिर्ज्ञान शास्त्र, वैद्यकशास्त्र, लौकिक शास्त्र, मंत्रवादशास्त्र आदि को बाह्यशास्त्र कहते हैं। व्याकरण, गणित आदि को लौकिकशास्त्र कहते हैं। न्याय शास्त्र व अध्यात्म शास्त्र सामायिक शास्त्र कहलाते हैं। आचार्यगण शास्त्र का व्याख्यान मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम, कर्त्ता रूप छः अधिकारों सहित करते हैं। शास्त्र व देवपूजा में कथंचित् समानता, शास्त्र में कथंचित् देवत्व, शास्त्रश्रद्धान में सम्यग्दर्शन का स्थान, विधि-निषेध आदि का निरूपण मिलता है। वीतराग सर्वज्ञदेव के द्वारा कहे गये षड्द्रव्य व सप्त तत्व आदि का सम्यक् श्रद्धान व ज्ञान तथा व्रतादि के अनुष्ठानरूप चारित्र, इसप्रकार भेद रत्नत्रय का स्वरूप जिसने प्रतिपादित किया गया है उसको आगम या शास्त्र कहते हैं (पं. का./ता.वृ./173/255)।

इस ग्रन्थ में 63 शलाका महापुरुषों के जीवन चरित्र, संभवत: तिलोयपण्णत्ती जैसे करणानुयोग के ग्रंथों से लेकर अतिसंक्षिप्त रूप में दिये गये हैं। उस समय भगवज्जिनसेन और गुणभद्र के महापुराण उनके समक्ष रहे होंगे, जिनके साररूप उन्होंने यह शास्त्र रचा होगा। यह ग्रन्थ खांडिल्यवंशी जाजाक नामक पण्डित की प्रार्थना और प्रेरणास्वरूप नित्य स्वाध्याय हेतु पण्डित आशाधर द्वारा रचा गया था। इसके पढ़ने से महापुराण का सारा कथा भाग स्मृतिरूप गोचर हो जाता है। ग्रंथकार ने टिप्पणी रूप में इस पर स्वोपज्ञ 'पंजिका' टीका भी लिखी है।

सम्पूर्ण रचना 24 अध्यायों में विभक्त है और सम्पूर्ण ग्रंथ 480 श्लोकों में है। समस्त ग्रंथ की रचना सुललित, सुन्दर अनुष्टुप छन्दों में की गयी है।

सर्वप्रथम 40 पद्यों में भगवान् ऋषभदेव का, फिर 7 पद्यों में अजितनाथ का, 3 पद्यों में संभवनाथ का, 3 पद्यों में अभिनन्दन प्रभु का, 3 पद्यों में सुमतिनाथ का, 3 पद्यों में पद्मप्रभ का, 3 पद्यों में सुपार्श्वजिन का, 10 पद्यों में चन्द्रप्रभ का, 3 पद्यों में पुष्पदन्त का, 4 पद्यों में शीतलनाथ का, 10 पद्यों में श्रेयांसनाथ का, 9 पद्यों में वासुपूज्य का, 16 पद्यों में विमलनाथ का, 10 पद्यों में अनन्तनाथ का, 17 पद्यों में धर्मनाथ का, 21 पद्यों में शान्तिनाथ

का, 4 पद्यों में कुन्थुनाथ का, 16 पद्यों में अरनाथ का, 14 पद्यों में मल्लिनाथ का, 11 पद्यों में मुनिसुव्रतनाथ का जीवन चरित्र वर्णित है। इनका संदर्भ लेकर राम-लक्ष्मण की कथा 81 पद्यों में वर्णित की गयी है। इनके पश्चात् 21 पद्यों में कृष्ण-बलराम, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि के चरित्र का वर्णन है। तत्पश्चात् तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र 101 पद्यों में दिया है जहाँ श्रीकृष्ण आदि के जीवनवृत्त भी हैं। पुनः 32 पद्यों में पार्श्वनाथ का जीवन-चरित्र दिया है। महावीर-पुराण अंत में 52 पद्यों में रचित हुआ है।

इस प्रकार प्रत्येक तीर्थंकर के काल में जो-जो चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि हुए उनके चारित्र का वर्णन भी उनके साथ हुआ है। ग्रंथ के अन्त में 15 पद्यों में प्रशस्ति रचित है जो ग्रन्थ-रचनाकाल एवं देश सम्बन्धी है -

नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत्।
ग्रन्थोऽयं द्विनवद्वयेक विक्रमार्क समात्यये॥ 13॥

अर्थात्, इस ग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् 1292 में नलकच्छपुर के नेमिनाथ जैन मन्दिर में हुई थी।

उपसंहार

पण्डित आशाधर की कृतियों का मूल्यांकन शोध की वस्तु है। उनकी जिनभक्ति जिनयज्ञकल्प के श्लोक से स्पष्ट है -

या वत्रिलोक्यां जिनमन्दिरराचार्ः तिष्ठन्ति शक्रादिभिरर्च्यमानाः।
तावज्जिनादि प्रतिमाप्रतिष्ठां शिवार्थिनोऽनेन विद्यापयन्तु॥

इसीप्रकार सागारधर्मामृत की भव्य कुमुदचंद्रिका नामक टीका में भी उल्लेख है -

यावत्तिष्टाति शासनं जिनपतेच्छेदानमन्तस्तमो।
यावच्चार्क निशाकरौ प्रकुरुतः पूसां दशामुत्सवम्॥
तावत्तिष्ठतु धर्मसूरिभिरियं व्याख्यायमाना निशम्।
भव्यानां पुरुतोत्र देशविरताचारप्रबोधोद्धुरा॥

पण्डित आशाधर ने इस ग्रन्थ के अन्त में भव्यजीवों के प्रति अपनी सद्भावना प्रकट की है -

शान्तिः शतं नुतां समस्त जगतां सम्पच्छतां धार्मिकैः।
श्रेयः श्री परिवर्धतां नय धुराधुर्यो धरित्री पतिः॥
सद्विद्यारस समुद्गिरन्तु कवयो नामाप्यधस्यास्तु मा।
प्रार्थ्यं वा कियदेव एव शिव कृद्धर्मो जयत्वर्हतः॥

आशा है कि विद्वद्गण पण्डित आशाधर के कृतित्व का मूल्यांकन उसी स्तर पर जाकर शोध की सामग्री को प्रकाशित करने का कठोर प्रयास करेंगे, जैसा कि उनकी प्रतिभासम्पन्नता से अभिप्रेत है, अपेक्षित भी है।

- 554, सर्राफा
जबलपुर-482 002

▲▲▲

प्रतिष्ठासारोद्धार : एक सामान्य परिचय

— डॉ. कस्तूरचन्द्र 'सुमन'

यह एक प्रतिष्ठा सम्बन्धी ग्रंथ है। इसके रचयिता हैं पण्डितप्रवर श्री आशाधरजी। इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम प्रकाशन विक्रम संवत् 1974 में पाढम (मैनपुरी) निवासी पं. मनोहरलाल शास्त्री के द्वारा संक्षिप्त हिन्दी भाषा टीका सहित श्री जैनग्रंथ-उद्धारक, मुम्बई से किया गया था।

पण्डितप्रवर श्री आशाधरजी गृहस्थाचार्य थे। उन्होंने श्री वसुनन्दि आचार्य कृत प्रतिष्ठासार संग्रह के विषय का उद्धार करने के ध्येय से विस्तारपूर्वक इस ग्रन्थ की रचना की तथा इसका प्रतिष्ठासारोद्धार सार्थक नाम रखा।[1]

अपर नाम - इस ग्रन्थ का अपर नाम जिनयज्ञकल्प बताया गया है। रचयिता श्रीमत् पण्डितप्रवर आशाधर ने स्वयं ग्रंथ के मंगलाचरण में ग्रन्थ का नाम जिनयज्ञकल्प कहा है-

जिनान्नमस्कृत्य जिनप्रतिष्ठा शास्त्रोपदेशव्यहारदृष्ट्या।
श्री मूलसंघे विधिवत्प्रवुद्धान् भव्यान् प्रवक्ष्ये जिनयज्ञकल्पम्॥ 1॥

लेखक ने मंगलाचरण में आये 'जिन' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा कि 'जिन' वे भव्यात्माएँ हैं जिन्होंने कर्मरूपी वैरियों को जीत लिया है। अत: पंच परमेष्ठी तथा उनके

द्वारा कथित द्वादशांग को श्रुत जिन जानना चाहिए। पंच परमेष्ठी का अर्चन-वन्दन जिनयज्ञ है। इसकी क्रियाओं का क्रम कल्प है। अतः जिनपूजा के क्रिया-क्रम के उद्घोषक को 'जिनयज्ञकल्प' संज्ञा दी गयी ज्ञात होती है। लेखक ने लिखा भी है -

साकल्येनैकदेसेन कर्मारातिं जितोजिनाः।
पंचार्हदादयोऽत्रेष्टाः श्रुतं चान्यच्च तादृशम॥ 1.2॥
जिनानां यजनं यज्ञस्तस्य कल्पः क्रियाक्रमः।
तद्वाचकत्वाच्च जिनयज्ञकल्पोऽयमुच्यते॥ 1.3॥

सामान्य परिचय

मन्दिर-जीर्णोद्धार - यह ग्रन्थ छह अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय की विषयवस्तु इक्कीस पृष्ठों में वर्णित है। अध्याय के शुभारम्भ में ही पण्डितप्रवर लेखक ने पुण्याभिलाषियों के लिए जहाँ एक बार नित्यमह पूजन में उद्यमी श्रावक को जिनमन्दिर के निर्माण की प्रेरणा दी है, दूसरी ओर विशेष रूप से जीर्णोद्धार कराने को भी कहा है। उन्होंने इन भावनाओं को निम्न प्रकार अभिव्यक्त किया है -

अतो नित्यमहोद्युक्तैर्निर्माप्यं सुकृतार्थिभिः।
जिनचैत्यगृहं जीर्णमुद्धार्यं च विशेषतः॥ 1.6॥

इस कथन को ध्यान में रखकर नये मन्दिरों की निर्माण की अपेक्षा पुराने जीर्ण मन्दिरों के उद्धार की ओर हमारा लक्ष्य रहना चाहिए। मन्दिर के जीर्णोद्धार अथवा उसमें अपूर्व प्रतिमा के आने पर शान्तिविधान करे॥ 1/190॥

शुभ चिह्न - जिनमन्दिर के जीर्णोद्धार के सम्बन्ध में जानकारी करते समय दिगम्बर मुनि, बछड़ेवाली गाय, बैल, घोड़ा, हाथी, सधवा स्त्री, छत्र और आदि शब्द से चमर, ध्वजा, सिंहासन, दही, दूध इत्यादि का दिखाई देना तथा वीणा का शब्द, जैनशास्त्रों का पाठ, अर्हन्त को नमस्कार आदि शब्दों का सुनाई देना लेखक की दृष्टि में शुभ माने गये हैं -

मुनिगोऽश्वेभभूषाद्य योषिच्छत्रादि दर्शनम्।
तत्प्रश्ने वेदपाठार्हन्नुत्यादि श्रवणं शुभम्॥ 1.9॥

लेखक का परामर्श है कि जो अपना और राजा एवं प्रजा का कल्याण चाहता है उसे कभी भी जिनमन्दिर एवं जिन प्रतिमा के निर्माण में वास्तुशास्त्र का उल्लंघन नहीं करना चाहिए -

जैन चैत्यालयं चैत्युमुत निमर्पियन् शुभम्।
वांछन स्वस्य नृपादेश्च वास्तुशास्त्रं न लंघयेत्॥ 1.17॥

प्रतिमा परिमाण फल - प्रतिमाओं की पूजा के सन्दर्भ में गृहस्थों को संकेत करते हुए लेखक ने अपने घर के चैत्यालय में एक विलस्त से अधिक परिमाणवाली प्रतिमा नहीं रखने का परामर्श दिया है। वे चाहते हैं ऐसी प्रतिमा जिनमन्दिर में ही पूजने योग्य है -

न वितस्त्यधिकां जातु प्रतिमां स्वगृहेर्चयेत्॥ 1.81॥

प्रतिमा-प्रमाण के सम्बन्ध में कहा गया है कि घर के चैत्यालय में एक अंगुल की प्रतिमा श्रेष्ठ होती है। दो अंगुल की धननाशक, तीन अंगुल की वृद्धिकारक, चार अंगुल की पीड़ाकारी, पाँच अंगुल की वृद्धिकारी, छह अंगुल की उद्वेगकारी, सात अंगुल की गो-वृद्धिकारक, आठ अंगुल की गो-हानिकारी, नौ अंगुल की पुत्रवृद्धिकारी, दश अंगुल की धननाशक, ग्यारह अंगुल की सर्व कामार्थ साधक होती है। इससे बड़ी प्रतिमा नहीं रखें -

अथातः संप्रवक्ष्यामि गृहविंवस्य लक्षणम्।
एकांगुलं भवेच्छ्रेष्टं द्वयगुलं धननाशनम्॥ 1॥
त्र्यंगुले जायते वृद्धिः पीडा स्याच्चतुरंगुले।
पंचांगुले तु वृद्धिः स्यादुद्वेगस्तु षडंगुले॥ 2॥
सप्तांगुले गवांवृद्धिर्हानिरष्टांगुले मता।
नवांगुले पुत्रवृद्धिर्धन नाशेत्दशांगुले॥ 3॥
एकादशांगुलं बिंबं सर्वकामार्थसाधकम्।
एतत्परमाणमाख्यातन ऊर्ध्वंन कारयेत्॥ 4॥
द्वादशांगुलपर्यंते यवाष्टांशनतिक्रमात्।
स्वगृहे पूजयेद्विम्बं न कदाचित्ततोधिकम्॥ 5॥

शुभ प्रतिमा - वह प्रतिमा प्रतिष्ठा योग्य नहीं होती तो पहले प्रतिष्ठित की जा चुकी हो, जिसका जिनलिंग को छोड़ अन्य आकार हो अथवा जिसका पहले शिव आदि का आकार रहा हो बाद में जिनदेव का आकार दिया गया हो अथवा जिसके आकार में सन्देह हो या प्रतिमा जीर्ण हो गयी हो।

नार्चांश्रितानिष्टरूपां व्यंगितां प्राक् प्रतिष्ठिताम्।
पुनर्घटित संदिग्धां जर्जरां वा प्रतिष्ठयेत्॥ 1.83॥

जलयात्रा - वस्त्राभूषण और चन्दनलेपादि से विभूषित होकर इन्द्र सर्वप्रथम प्रतिष्ठा करानेवाले प्रतीन्द्र दाता के साथ हाथी या घोड़े पर बैठकर प्रथम दिन सरोवर पर जावे। साथ में श्रेष्ठ पत्तों से आवृत, दूध-दही-अक्षत से पूजित, फल से पूर्ण, मालावृत कंठवाले नये घड़े सिर पर धारण किये प्रसन्नचित्त कुलीन स्त्रियाँ चलें। साधर्मी भाइयों तथा छत्र,

वाद्य से आवृत शान्ति के लिए मंत्र से मंत्रित करके जौ और सरसों चारों ओर क्षेपण करे (मंत्र - ओं हूं क्षूं फट् किरिटि घातय घातय पर विघ्नान् स्फोटय स्फोटय सहस्रखंडान् कुरु कुरु परमुद्रांश्छिंद छिंद परमंत्रान् भिंद भिंद क्षः क्षः हूं फट स्वाहा।) यह मंत्र पढ़े। इसके पश्चात् सरोवर को अर्घ देकर उसके किनारे आह्वनादि विधि से जलदेवता का आह्वानन करे। पश्चात् घड़ों को जल से भरकर उनके मुख में श्री आदि देवियों की स्थापना कर उन्हीं कुलीन स्त्रियों को दे दे। वे उन्हें लाकर जिन मन्दिर में स्थापित करें।

अथेंद्रो दिव्यवस्त्रस्रग्भूषागोशीर्ष संस्कृतः।
प्रतींद्रदातृयुग्धुर्यं गजं वाश्वमधिकितः॥ 1.157॥

सत्पल्लवच्छन्नमुखान्दूर्वादध्यक्षतांचितान्।
फलगर्भान्नवान कुंभान् दृढान् कंठलुठत्स्रजः॥ 1.158॥

विभ्रतीभिः सुवेशाभिः सहर्षाभिः पुरंध्रिभिः।
सर्वसंघेन च वृत्तश्छत्रतौर्यत्रिकध्वजैः॥ 1.159॥

विश्वं विस्मापयन शांत्यै सर्वतो यवसर्षपान्।
मंत्राभ्यस्तान् किरन गत्वा प्रतिष्ठा प्राग्दिने सरः॥ 1.160॥

तस्मै दत्तार्धमाधाय तत्तीरे वास्तुवद्विधिम्।
आह्वाननादि विधिना प्रसाद्य जलदेवताम्॥ 1.161॥

पूरयित्वा जलैरास्य स्थापितश्र्यादिदेवतान्।
ताभिरेव पुरंध्रीभिर्महाभूत्या तथैव तान्॥ 1.162॥

कुंभानानाय्य संस्थाप्य चैत्यगेहे सुरक्षितान्।
तथैवोत्तरकृत्याय दातृमंदिरमाश्रयेत्॥ 1.163॥

इसमें सरोवर को और वास्तुदेव को अर्घ्य चढ़ाकर, वायुकुमार देवों का आह्वानन कर भूमि स्वच्छ की जाती है तथा मेघकुमार देवों का आह्वानन कर भूमि का सिंचन कर उसे शुद्ध किया जाता है। सरोवर को अर्घ्य देते समय निम्न श्लोक तथा निम्न मंत्र पढ़ें -

यत्पद्माभृतलंभनात्सुमनसां मान्योसि दिक् चक्रमत्
कल्लोलोसि सदा यदाश्रितवतां संतापहंतासि यत्।
लोके यद्यपि तावतैव वदसे क्षीरोदवत्त्वं जिन-
स्नानीयेन तथापि तद्वदुदकेनार्घ्योसिकासार नः॥ 2.3॥

ओं ह्रीं पद्माकरायार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

मन्दिर-वेदी-प्रतिष्ठा-कलशारोहण विधि में कलशों की संख्या कम से कम नौ और अधिक से अधिक 81 निर्दिष्ट है। घटों के मुखों को नारियल तथा पीले कपड़े से आवृतकर तथा पचरंगी धागे से बाँधकर सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा जलाशय ले जाया जाता है। वहाँ एक बड़े नंद्यावर्त पर स्वस्तिकयुक्त इक्यासी खण्डों में उन्हें रखा जाता है। पश्चात् नौ देवताओं की पूजा की जाती है। लवंग चूर्ण से मिला जल उन कलशों में भरा जाता है। इस जल में जलयंत्र का जल भी मिला दिया जाता है। नवदेवता पूजा के पश्चात् तीर्थमंडल पूजा की जाती है। समय हो तो 81 कलशों को मंत्रित किया जाता है अन्यथा सामूहिक कलश-पूजन कर कलश यथावत् वापिस ले जाये जाते हैं।

अन्य अध्यायों में पाँचों कल्याणकों की विधियाँ तथा उनके मंत्र दिये गये हैं। प्रतिष्ठाचार्यों के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी समझ में आता है।

---

1. प्रतिष्ठासारोद्धार, जैन ग्रंथ उद्धारक कार्यालय, खत्तर गली, हौदावाड़ी, गिरगांव, मुम्बई, वी.नि.सं. 2443, प्रस्तावना, पृष्ठ 3।

- जैनविद्या संस्थान श्री महावीरजी
श्री महावीरजी (करौली) राज.

▲▲▲

गृहस्थ का लक्षण

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरुन् सद्गीस्त्रिवर्गं भज-
न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहारविहारआर्यसमितिः प्राज्ञ कृतज्ञो वशी
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत्॥ 1.11॥ सा.ध.

- न्यायपूर्वक धन कमानेवाला; गुणों, गुरुजनों और गुणों से महान् गुरुओं को पूजनेवाला; आदर-सत्कार करनेवाला; परनिन्दा, कठोरता आदि से रहित प्रशस्त वाणी बोलनेवाला; परस्पर में एक-दूसरे को हानि न पहुँचाते हुए धर्म-अर्थ और काम का सेवन करनेवाला; धर्म-अर्थ और कामसेवन के योग्य पत्नी, गाँव, नगर और मकानवाला, लज्जीशील; शास्त्रानुसार खानपान और गमनागमन करनेवाला; सदाचारी पुरुषों की संगति करनेवाला; विचारशील; पर के द्वारा किये गये उपकार को माननेवाला; जितेन्द्रिय; धर्म की विधि को प्रतिदिन सुननेवाला; दयालु और पापभीरु पुरुष गृहस्थ धर्म को पालन करने में समर्थ होता है।

मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पञ्चगुरुपदशरण्यः।
दानयजनप्रधानो ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात॥ 1.15॥ सा.ध.

- जो मूल गुण और उत्तर गुणों में निष्ठा रखता है, अर्हन्त आदि पाँच गुरुओं (पंच परमेष्ठियों) के चरणों को ही अपनी शरण मानता है, दान और पूजा जिसके प्रधान कार्य हैं तथा ज्ञानरूपी अमृत को पीने का इच्छुक है वह श्रावक है।

अनु. - **पं. कैलाशचन्द शास्त्री**

पण्डित श्री आशाधरजी की दृष्टि में 'अध्यात्म-योग-विद्या'

— डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल

■

आचार्यकल्प पण्डित आशाधरजी की अद्वितीय जैन साहित्य साधना, अगाध बुद्धि-कौशल एवं स्वानुभव से परिपूर्ण धर्मामृतरूप जैनागम-सार उनकी कृति 'अध्यात्म-रहस्य' में सहज ही द्रष्टव्य है। पण्डित जी ने जैन-जैनेतर साहित्य का विशद अनुभव कर सतरह अध्यायों में धर्मामृत ग्रंथ की रचना की। अपने पिताश्री की प्रेरणा से आपने धर्मामृत के अठारहवें अध्याय के रूप में 'अध्यात्म-रहस्य' की रचना की, जो संयोगवश उनकी भावनानुसार धर्मामृत का अंग नहीं बन सका। योग अर्थात् ध्यान/समाधि-विषयक होने के कारण इसका अपर नाम 'योगोद्दीपन' भी है। इसकी पुष्टि निम्न समाप्तिसूचक वाक्य से होती है -

'इत्याशाधर-विरचित-धर्मामृतनाम्नि सूक्ति-संग्रहे योगोद्दीपनयो नामाष्टादशोऽध्यायः'

पण्डित जी ने उक्त वाक्य में सूक्ति-संग्रह विशेषण लगाया है। यह विशेषण इस तथ्य की पुष्टि करता है कि पण्डित आशाधरजी ने धर्मामृत में जो लिखा है वह अरहंतदेव और उनकी गणधर-आचार्य-परम्परा के प्रभाव-पुरुषों की अर्थसूचक सूक्तियों का संग्रह है, जिनआगम स्वरूप ही है।

'अध्यात्म-रहस्य' में संस्कृत भाषा के 72 श्लोक हैं। इसकी प्रतिपाद्य विषय-वस्तु अध्यात्म अर्थात् आत्मा से परमात्मा होने सम्बन्धित रहस्य अर्थात् मर्म का बोध कराना है। यह कृति धर्मामृतरूप भव्य प्रासाद का स्वर्ण-कलश है। इसे अध्यात्म-योग-विद्या भी कही जा सकती है। अध्यात्म-रहस्य का दार्शनिक आधार आचार्यों कृत समयसार, भावपाहुड, अमृत कलश, समाधितंत्र, इष्टोपदेश, तत्वार्थसार, ज्ञानार्णव, योगसार आदि अध्यात्म ग्रंथ हैं।

स्व. पण्डित श्री जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' ने श्रम-साधनापूर्वक अध्यात्म रहस्य की शोध-खोज एवं विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना एवं हिन्दी व्याख्या लिखकर वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली से वर्ष 1957 में प्रकाशित की थी, जो अब अनुपलब्ध है और पुनर्प्रकाशन की प्रतीक्षा में है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्षपाहुड में और आचार्य पूज्यपाद ने समाधितंत्र में पर्याय दृष्टि से आत्मा के तीन भेद किये हैं - बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। पण्डित आशाधरजी ने इन्हें क्रमशः स्वात्मा, शुद्धस्वात्मा और परब्रह्म के रूप में युक्तिपूर्वक निरूपित किया है। इस प्रकार अनादि अविद्या युक्त स्वात्मा (द्रव्य दृष्टि से शुद्धात्मा) से परब्रह्म-परमात्मारूप पूर्ण विकसित मुक्तात्मा की प्राप्ति ही अध्यात्म-रहस्य का लक्ष्य है, जो सभी जीवात्माओं को इष्ट है। पं. आशाधरजी के अनुसार कर्मजनित शारीरिक दुःख-सुख में अपनत्व अविद्या का छेदन, भेद-विज्ञानजन्य सम्यग्ज्ञान एवं उपेक्षारूप विद्या से होता है। इसका प्रारम्भ श्रुति, मति, ध्याति और दृष्टि इन चार सोपानों सहित आत्मानुभूति एवं शुद्ध उपयोग से होता है। शुद्ध उपयोग का साधक है—श्रुताभास, शुद्धात्मा एवं भगवती भवितव्यता की भावना। रत्नत्रयात्मक-शुद्ध-स्वात्मा को ही यथार्थ मोक्षमार्ग स्वीकार कर व्यवहार एवं निश्चय दोनों को कल्याणकारी घोषित किया है।

मंगलाचरण - भगवान महावीर एवं गौतम सद्गुरु की वंदना

जो भक्ति योग में अनुरक्त सुपात्र निकट भव्यों को अपना पद (सिद्धत्व) प्रदान करते हैं अर्थात् जिनकी सच्ची-सविवेक-भावपूर्ण भक्ति से भव्य प्राणी उन जैसे ही हो जाते हैं उन ज्ञानलक्ष्मी के धारक श्री भगवान महावीर और श्री गौतम गणधर को नमस्कार हो (श्लोक)। यह आराध्य से आराधक होने सूचक श्लोक है। पुनश्च उन सद्गुरुओं को नमस्कार है जिनके वचनरूपी दीपक से प्रकाशित (योग) मार्ग पर आरूढ़ योगी-ध्यानी मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त करने में समर्थ होता है (श्लोक 2)।

सद्गुरु दो प्रकार के होते हैं - 1. व्यवहार-सद्गुरु, जिसकी वाणी के निमित्त से योगाभ्यासी को शुद्धात्मा के साक्षात्कार की दृष्टि प्राप्त होती है और 2. निश्चय-सद्गुरु,

'आत्मैव गुरूरात्मनः' अर्थात् आत्मा ही आत्मा का सद्गुरु है जिसका अंतरनाद हो और सुनाई पड़े। अंतरात्मा की आवाज ही सन्मार्ग-दर्शक है (श्लोक 13)।

पारगामी योगी का स्वरूप

जिसके शुद्धस्वात्मा में, निजात्मा की राग-द्वेष-मोह रहित अवस्था में सद्गुरु के प्रसाद से श्रुति, मति, ध्याति और दृष्टि - ये चार शक्तियाँ क्रमशः सिद्ध हो जाती हैं वह योगी योग का पारगामी होता है (श्लोक 3)। इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार की दृष्टि देनेवाला गुरु ही सद्गुरु है।

स्वात्मा (बहिरात्मा) का स्वरूप

जो आत्मा निरन्तर हृदय-कमल के मध्य में, उसकी कर्णिका में 'अर्हं' शब्द के वाच्यरूप से 'मैं' के भाव को लिये हुए पशुओं, मूढों तक को स्वसंवेदन (स्वानुभूति) से ज्ञानियों को स्पष्ट प्रतिभासित होता है वह स्वात्मा है (श्लोक 4)।

शुद्ध-स्वात्मा (अंतरात्मा) का स्वरूप

स्वात्मा ही जब किसी से राग-द्वेष-मोह नहीं करता हुआ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणत होता है, शुद्ध-स्वात्मा कहलाता है। (श्लोक 5)। पर्याय दृष्टि से स्वात्मा के शुद्ध और अशुद्ध दो भेद हो जाते हैं।

परब्रह्म (परमात्मा) का स्वरूप

जो निरन्तर आनन्दमय-चैतन्य रूप से प्रकाशित रहता है, जिसको योगीजन ध्याते हैं, जिसके द्वारा यह विश्व आत्म-विकास की प्रेरणा पाता है, जिसे इन्द्रों का समूह नमस्कार करता है, जिससे जगत की विचित्रता व्यवस्थित होती है, जिसका हार्दिक श्रद्धान आत्म-विकास का मार्ग (पदवी) है और जिसमें लीन होना मुक्ति है, ऐसा वह परमब्रह्मरूप सर्वज्ञ-सूर्य मेरे हृदय में सदा प्रकाशित हो (श्लोक 72)। केवलज्ञानमय सर्वज्ञ ही परमप्रकाश-रूप परब्रह्म है।

योगी की चार सिद्धियों का स्वरूप

1. **श्रुति-श्रुत** - जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदेशित ऐसी गुरुवाणी जो प्रथमतः ज्ञात एवं उपदिष्ट ध्येय को अर्थात् ध्यान के विषयभूत शुद्धात्मा को धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान में दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (आगम) के अविरोध रूप आयोजित एवं व्यवस्थित करती है उसका नाम श्रुति है (श्लोक 6)। ऐसी धर्म-देशना जो स्वात्मा को प्रशस्त ध्यान की ओर लगाकर शुद्धात्मा-ध्येय को प्राप्त कराने की दोषरहित विधि है, वह श्रुति है। 'एकाग्रचिंता निरोधोध्यानं' - एकाग्र में चिन्ता निरोध को ध्यान कहा है। शुद्धात्मा में चित्तवृत्ति के नियंत्रण एवं चिन्तान्तर के अभाव को ध्यान कहते हैं, जो स्व-संवित्तिमय होता है।

2. मति-बुद्धि - गुरुवाणी से प्राप्त श्रुति के द्वारा सम्यक् रूप से निरूपित शुद्ध स्वात्मा जिस मति या बुद्धि से युक्तिपूर्वक - नय प्रमाण द्वारा सिद्ध किया जाता है - अध्यात्म शास्त्र में मति कही जाती है (श्लोक 7)। जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है उसको उसी रूप में देखती हुई धी (मति) जो सदा आत्माभिमुख होती है, वह बुद्धि के रूप ग्राह्य है, तब हे बन्धु! उस बुद्धि के आत्मा-सम्बन्ध को समझो (श्लोक 16)। ऐसी स्व-पर प्रकाशित बुद्धि का नाम सम्यग्ज्ञान है।

3. ध्यानरूप परिणत बुद्धि-ध्याति - जो बुद्धि प्रवाहरूप से शुद्धात्मा में स्थिर वर्तती है, अपने शुद्धात्मा का अनुभव करती है, और शुद्धात्मा से भिन्न पर-पदार्थों के ज्ञान का स्पर्श नहीं करती उस बुद्धि (ज्ञान की पर्याय) को ध्याति कहते हैं (श्लोक 8)। ध्यानरूप परिणत या ध्येय को समर्पित बुद्धि ही ध्याति कहलाती है।

4. दृष्टि (दिव्य दृष्टि) - जिसके द्वारा रागादि विकल्पों से रहित ज्ञानशरीरी स्वात्मा अपने शुद्ध स्वरूप में दिखाई दे और जिस विशिष्ट भावना के बल पर सम्पूर्ण श्रुतज्ञान स्पष्टतः अपने में प्रत्यक्ष रूप से प्रतिभासित होता है वह दृष्टि अध्यात्म-योग-विद्या में दिव्यदृष्टि कही जाती है (श्लोक 9)। अथवा जो दर्शन-ज्ञान लक्षण से आत्म-लक्ष्य को अच्छी तरह अनुभव करे-जाने वह संवित्ति 'दृष्टि' कहलाती है (श्लोक 10)। शुद्ध स्वात्मा का साक्षात्कार करानेवाली वह दृष्टि समस्त दुःखदायी विकल्पों को भस्म करती है, वही परमब्रह्म रूप है और योगीजनों द्वारा उपादेय होकर पूज्य-प्रार्थनीय है (श्लोक 11)।

श्रुताभ्यास का उद्देश्य : दृष्टि एवं शुद्धोपयोग की प्राप्ति

बुधजनों द्वारा सम्पूर्ण श्रुतसागर (शास्त्राभ्यास) के मंथन का उद्देश्य उस दृष्टि या संवित्ति की प्राप्ति है जिससे अमृतरूप मोक्ष प्राप्त होता है; अन्य सब तो मनीषियों का बुद्धिकौशल निःसार है (श्लोक 12)। श्रुताभ्यास के द्वारा शुभउपयोग का आश्रय करता हुआ शुद्ध-स्वात्मा शुद्ध उपयोग में ही अधिकाधिक स्थिर रहने की भावना एवं श्रेष्ठ-निष्ठा धारण करता है (श्लोक 55)। इसी कारण से स्वाध्याय को परम तप कहा है।

कर्मबंधरूप संसार दुःख का कारण : अविद्या

प्रेम (तीन वेद रूप परिणति), रति, माया, लोभ और हास्य यह पाँच (वेद सहित सात) राग के भेद हैं। क्रोध, मान, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा - ये छः भेद द्वेष के हैं। दर्शन मोहनीय के मिथ्यात्वसहित राग ही मोह कहलाता है। राग-द्वेष-मोह बंध का कारण होने से मुमुक्षुओं द्वारा उपेक्षणीय होने पर भी अज्ञानी जीव कर्मों से प्रेरित होकर 'यह मेरा हित है' या 'यह मेरा अहित है' ऐसा मानता हुआ पदार्थों में राग या द्वेष करता है और कर्म-बंध से पीड़ित होता है (श्लोक 28)। मोह के कारण वह ऐसा मानता है

कि सुगति की प्राप्ति से इन्द्रिय-विषयों का बारम्बार सुख और दुर्गति से इन्द्रिय-विषयों की अप्राप्तिरूप दुख होता है। उसकी यह मान्यता अविद्या रूप है और पाप का बीज है (श्लोक 20)। इस अविद्या का छेदन सम्यग्ज्ञान एवं उपेक्षारूप विद्या से शक्य है जिसका वर्णन आगे किया है।

उत्तम सुख (मोक्ष) का मार्ग : रत्नत्रय

रत्नत्रय उत्तम सुख (मोक्ष) का मार्ग है। रत्नत्रयात्म अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध-स्वात्मा (अंतरात्मा) ही यथार्थत: मोक्ष-मार्ग है। अत: मुमुक्षुओं द्वारा वही पृच्छनीय, अभिलाषणीय और दर्शनीय है (श्लोक 14)। अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नहीं है।

शुद्ध चिदानन्दमय स्वात्मा के प्रति तद्रूप प्रतीति, अनुभूति और स्थिति में अभिमुखता ही क्रमश: गौण (व्यवहार) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है और उस प्रतीति, अनुभूति तथा स्थिति में उपयोग की प्रवृत्ति मुख्य (निश्चय) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है (श्लोक 15)। शुद्ध-स्वात्मा की प्रतीति दर्शन, अनुभूतिज्ञान और स्थिति चारित्र है। इनकी अभिमुखता व्यवहार रत्नत्रय है और उपयुक्ता अर्थात् उपयोग-की-प्रवृत्ति निश्चय रत्नत्रय है।

निश्चय रत्नत्रय की महत्ता - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप त्रिरत्न को स्वात्मा की बुद्धि में धारण-श्रद्धान कर जब जीव शुद्धस्वात्मा का इस तरह संवेदन (अनुभव) करता है कि संवेद्यमान (अनुभव में आनेवाली) स्वात्मा में स्वयं में लीन हो जाता है तभी त्रिरत्नमय गुणों का उच्च विकास होता है (श्लोक 16)। इसे ही ज्ञानानुभूति कहते हैं।

व्यवहार-निश्चय सम्यग्दर्शन

अपने शुद्ध-बुद्ध-चिद्रूप स्वभाव से भिन्न आत्मा की छ: द्रव्यों तथा सात तत्वादि के प्रति अभिरुचि व्यवहार सम्यग्दर्शन है। अपने शुद्ध-बुद्ध-चिद्रूप स्वभाव की ओर प्रवृत्त आत्माभिमुखी रुचि का नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है (श्लोक 67)।

व्यवहार-निश्चय सम्यग्ज्ञान

पर-पदार्थों के ग्रहण को गौण कर निर्विकल्प स्व-संवदेन को निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं। पर-पदार्थों के ग्रहण रूप सविकल्प ज्ञान को व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहते हैं। भेद, विशेष तथा पर्याय को विकल्प कहते हैं, जो इनसे सहित है वह सविकल्प और जो रहित है वह निर्विकल्प कहा जाता है (श्लोक 68)। जो ज्ञान आत्मा से भिन्न पर-पदार्थ से संसर्ग को प्राप्त हो रहा हो तथा वह किसी शब्द-समूह का विषय बना हुआ हो, तभी सविकल्प कहलाता है (श्लोक 69)।

व्यवहार-निश्चय सम्यक्चारित्र

आत्मा की सर्व-सावद्य-योग (मन-वचन-काय से हिंसादि कार्यों) से निवृत्ति गौण (व्यवहार) सम्यक्चारित्र है। और कर्म-छेदन से उत्पन्न आनन्द-परमानन्दमयवृत्ति मुख्य (निश्चय) सम्यक्चारित्र है (श्लोक 70)।

उभय रत्नत्रय की कल्याणकारिता की घोषणा

पूर्ण आत्म-विकास में उभय रत्नत्रय कल्याणकारी है जो अपूर्णतया अल्पशुद्धि से पूर्ण शुद्धि की ओर ले जाता है और साधन-साध्य का कार्य करता है। पं. जी के अनुसार जो जीव काललब्धि आदि के वश से तत्वार्थ के अभिनिवेशरूप-श्रद्धात्मक शुद्धि को, तत्वार्थ निर्णयरूप सम्यग्ज्ञानात्मक शुद्धि को तथा तपश्चरणमयी सम्यक्चारित्ररूप-शुद्धि को, जो विकल व्यवहार रूप अपूर्ण है, धारण करते हैं वे स्वात्म प्रत्यय - निजात्म प्रतीति-रूप सम्यग्दर्शन, स्वात्मवित्ति-निजात्मज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान और तल्लीनतामय-निजात्म, निमग्नतारूप सम्यकचारित्रमयीपूर्ण आत्म-शुद्धि को प्राप्त करनेवाले भव्य सिंह हैं (श्लोक 71)।

आत्माभिमुखी स्वात्मा की भावना एवं धारणा का स्वरूप

1. अकर्ता-अभोक्तास्वरूप की भावना

स्वात्मा को अपने शुद्ध-स्वरूप में स्थिर तथा दृढ़ करने हेतु साधक भावना-भाता है कि 'मैं ही मैं हूँ', इस आत्मज्ञान से भिन्न अन्य में 'यह मैं हूँ', 'मैं यह करता हूँ', 'मैं यह भोगता हूँ', इस प्रकार की चेतना-विचार को त्यागता है (श्लोक 18)। आत्मज्ञान से भिन्न अन्य कार्य को चिरकाल तक बुद्धि में धारण नहीं करता, यदि प्रयोजनवश कुछ समय के लिए वचन और काय से करना भी पड़े तो अनासक्ति भाव से करना चाहिये (समाधितंत्र, श्लोक 50)। इससे कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव विसर्जित होता है।

2. रागादिक विभावों के विनाश की भावना

राग-द्वेष-मोह आत्मा के अतीव उग्र शत्रु हैं उनकी अनुत्पत्ति और विनाश के लिए स्वात्मा बड़ी तत्परतापूर्वक नित्य ही अपने शुद्ध-बुद्ध-चिद्रूप-स्वात्मा की भावना भाता है (श्लोक 26)। इससे रागादिक के प्रति स्वामित्व भाव विसर्जित होता है।

3. भाव-द्रव्य-नो कर्म के त्याग की भावना

कर्म और कर्म-फल से आसक्ति घटाने एवं उनसे निवृत्ति हेतु स्वात्मा भावना भाता है कि रागादिक भावकर्म, ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म और शरीरादिक नो कर्म मेरा स्वरूप नहीं है, मुझसे भिन्न बाह्य पदार्थ हैं - मैं उन्हें त्यागता हूँ और उनसे उपेक्षा धारण करता हूँ (श्लोक 76)।

आत्मा द्वारा निरंतर अनुभव किये जानेवाले राग-द्वेष-क्रोधादि भाव भाव-कर्म हैं, (कार्य में कारण के उपचार से) तथा कर्मरूप परिणत पुद्‌गल पिण्ड में जो अज्ञान तथा रागद्वेषादिक फलदान की शक्ति है, जिसके वश संसारी जीव, राग-द्वेष करता है, वह भाव कर्म है (श्लोक 61)। जिस ज्ञानावरणादिक रूप पुद्‌गल कर्म के द्वारा चैतन्य स्वरूप आत्मा विकारी होकर कर्म-अनुरूप-अवस्था धारण करता है, द्रव्य-कर्म है (श्लोक 62)। तथा जीव में जो अंगादिक हैं उनकी वृद्धि-हानि के लिए जो पुद्‌गल-समूह कर्मोदयवश तद्रूप विकार को प्राप्त होता है, वह नो कर्म है (श्लोक 63)। 'नो' शब्द अल्प, लघु या किंचित अर्थ का सूचक है। इससे ममत्व भाव विसर्जित होता है।

4. हेय-उपादेय विवेक भावना

सिद्धि अर्थात् स्वात्मोपलब्धि के लिए हेय-उपादेय, सत-असत का ज्ञान और तदनुसार भावना अपेक्षित है। व्यवहार नय की अपेक्षा बाह्य विषयक मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र हेय है, असत् है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उपादेय (ग्राह्य) है और सत् है। निश्चय नय की दृष्टि से मिथ्यादर्शनादिक हेय और असत् है तथा अध्यात्म-विषयक सम्यग्दर्शनादिक उपादेय है, जो कि सत् है (श्लोक 64)।

परम शुद्ध निश्चयनय से मेरे लिए न कुछ हेय है और न कुछ उपादेय (ग्राह्य) है। मुझे तो स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि चाहिये, चाहे वह यत्नसाध्य हो या अयत्नसाध्य—उपाय करने से मिले या बिना उपाय के ही मिले (श्लोक 65)। जो निष्ठात्मा-स्वात्मस्थित कृत-कृत्य हो गया है उसके लिए बाह्य-अभ्यन्तर त्याग-ग्रहण का प्रश्न ही नहीं उठता।

5. भवितव्यता आधारित अहंकार-विसर्जन की भावना

जीवन में अहंकार और ममकार के संकल्प-विकल्प दारुण आकुलता के निमित्त बनते हैं। इनका विसर्जन भगवती भवितव्यता का आश्रय लेने से होता है। कर्तृत्व के अहंकार के त्याग हेतु कहा है कि 'यदि सद्‌गुरु के उपदेश से जिनशासन के रहस्य को आपने ठीक निश्चित किया है, समझा है तो 'मैं करता हूँ' इस अहंकारपूर्ण कर्तृत्व की भावना छोड़ो और भगवती भवितव्यता का आश्रय ग्रहण करो (श्लोक 66)। कोई भी कार्य अंतरंग और बहिरंग अथवा उपादान और निमित्त इन दो मूल कारणों के अपनी यथेष्ट अवस्थाओं में मिले बिना नहीं होता। जो भी कार्य होता है स्वभाव, निमित्त, नियति (काललब्धि) पुरुषार्थ और भवितव्यता (होनहार) इन पाँच समवायपूर्वक होता है। अत: कर्तृत्व के अहंकार के विसर्जन हेतु पुरुषार्थपूर्वक कार्य करना इष्ट है किन्तु फल की एषणा (अभिलाषा) भवितव्यता पर छोड़ना चाहिये। इसीलिये जैन आगम में स्वामी समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र में भवितव्यता को अलंघ्य-शक्ति कहा है, जिसे यहाँ 'भगवती' शब्द से सम्बोधित किया है। स्मरणीय है कि यहाँ कार्य में कर्तृत्व के अहंकार के त्याग की बात कही है, न कि

कार्य को त्यागने की। बिना कार्य के भवितव्यता का लक्षण ही नहीं बनता अतः पद की भूमिकानुसार कार्य करना अपेक्षित है। निष्क्रियता का आश्रय भवितव्यता का उपहास है।

श्री पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' ने अध्यात्म-रहस्य हिन्दी व्याख्या में स्पष्ट किया है कि "भगवान सर्वज्ञ के ज्ञान में जो कार्य जिस समय, जहाँ पर, जिसके द्वारा, जिस प्रकार से होना झलका है वह उसी समय, वहीं पर, उसी के द्वारा और उसी प्रकार से सम्पन्न होगा, इस भविष्य-विषयक कथन से भवितव्यता के उक्त आशय में कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि सर्वज्ञ के ज्ञान में उस कार्य के साथ उसका कारण-कलाप भी झलका है, सर्वथा नियतिवाद अथवा निर्हेतुकी भवितव्यता, जो कि असम्भाव्य है, उस कथन का विषय ही नहीं है। सर्वज्ञ का ज्ञान ज्ञेयाकार है न कि ज्ञेय ज्ञानाकार" (पृष्ठ 83-84)। भगवती भवितव्यता के रहस्य को समझने से चित्त में समता-भाव जाग्रत होता है जो आत्म-साक्षात्कार के लिए सहायक है। अतः इसकी भावना भाना श्रेष्ठ है।

6. स्व-समर्पण हेतु आत्मा के अद्वैत-सच्चिदानन्दस्वरूप की भावना

वस्तु-स्वरूप के प्रति अहंभाव आये बिना आत्म-समर्पण नहीं होता। इसी दृष्टि से स्वात्मा विचार करता है कि 'निश्चय से आत्मा सत्, चित् और आनन्द के साथ अद्वैत रूप ब्रह्म है वह मैं ही हूँ, इस प्रकार के निरन्तर अभ्यास से ही मैं अपने निर्मल आत्मा में लीन होता हूँ (श्लोक 30)। जो आत्मा को कर्मादिक से सम्बद्ध देखता है वह द्वैतरूप है जबकि जो भव्य आत्मा अन्य पदार्थों से विभक्त-भिन्न अपने को देखता है वह अद्वैत रूप परमब्रह्म को देखता है। अतः अद्वैत स्वरूप की भावना भाओ।

(अ) सत् स्वरूप - आत्म-स्वचतुष्टय रूप द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से प्रतिक्षण ध्रौव्य-उत्पत्ति-व्ययात्मक सत्स्वरूप है, सत्तावान है। पर-चतुष्टय की दृष्टि से असत्स्वरूप है (श्लोक 31)। जैसा जगत है वैसा मैं कभी नहीं हूँ और जैसा मैं हूँ वैसा जगत कभी नहीं रहा; क्योंकि कथंचित् सर्व पदार्थों की परस्पर विभिन्नता का अनुभव होता है (श्लोक 32)। पुद्गल में रूपादिगुण, धर्मद्रव्य में गति सहकारिता, अधर्म द्रव्य में स्थिति सहकारिता, काल द्रव्य में परिणमत्व और आकाशद्रव्य में अवगाहनत्व गुण हैं। सर्वद्रव्यों की अर्थ पर्याय सूक्ष्म और प्रतिक्षण नाशवान है (श्लोक 38)। जीव और पुद्गल की व्यंजन पर्याय वचनगोचर, स्थिर और मूर्तिक है। प्रत्येक द्रव्य अर्थ-व्यंजन पर्यायमय है और वे पर्यायों द्रव्यमय हैं (श्लोक 39)।

(ब) चित्स्वरूप - 'आत्मा ने अनादिकाल से अपने चैतन्यस्वरूप को जाना है, आज भी जान रहा है और अनन्तकाल तक अन्य किसी प्रकार से जानता रहेगा। जाननेवाला ध्रुव चेतन द्रव्य 'मैं' हूँ (श्लोक 33)। प्रत्येक द्रव्य पूर्व पर्याय में नष्ट होता हुआ वर्तमान

पर्याय में उत्पन्न होता हुआ सत्‌रूप से सदा स्थिर रहता हुआ 'यह वही है' इस प्रकार ज्ञान में लक्षित होता है उसी प्रकार सारा द्रव्य समूह त्रि-गुणात्मक अनुभव किया जाता है। मैं भी एक चेतन द्रव्य हूँ अत: अनादि संतति से उसी प्रकार अपनी चेतन पर्यायों के द्वारा परिवर्तित हो रहा हूँ और सदा से चेतनामय बना हुआ हूँ (श्लोक 34-35)। द्रव्य गुण-पर्यायवान है। जो सहभावी हैं वे गुण हैं और जो क्रमभावी हैं वे पर्याये हैं। जीवात्मा में असाधारण चैतन्यगुण है जो जीव के साथ सदा रहता है और कभी उससे अलग नहीं हो सकता (श्लोक 36)। स्वात्मा यह भावना भाता है कि जिस प्रकार मुक्ताहार में हार-मोती-शुक्लता पृथक्-पृथक् होते हुए भी प्रतीत में सभी हारमय हैं उसी प्रकार आत्म-द्रव्य में 'मैं चैतन हूँ, मुझमें चैतन्य है और चेतन-पर्यायों में चैतन्य गुण रहता है', इस प्रकार मैं आत्मद्रव्य में तन्मय हो रहा हूँ, आत्मद्रव्य इनके साथ तन्मय हो रहा है। ऐसी प्रतीत-भावना निरन्तर बनी रहे (श्लोक 40)।

(स) आनन्दस्वरूप - चैतन्य गुण के समान आनन्दगुण भी आत्मा का है जो अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता। शुद्ध-स्वात्मा अपने में ही उस शाश्वत आनन्द गुण का चिन्तन करता हुआ यह अनुभव करता है कि ऐसा आनन्द चक्रवर्ती, इन्द्र, अहमिन्द्र और धरणेन्द्र को भी कभी प्राप्त नहीं होता। यह आनन्द गुण अतीन्द्रिय तथा स्वाधीन है जिसके समक्ष सभी लौकिक सुख फीके पड़ते हैं (श्लोक 41)।

7. हृदय में परब्रह्मस्वरूप के स्फुरण की भावना

आत्मानुभव के लिए उत्सुक स्वात्मा आनन्दमय-चैतन्य रूप से प्रकाशित परमब्रह्म की भावना भाता है कि वह उसके मन में सदा स्फुरायमान हो। उसकी इस प्रबल भावना के फलस्वरूप त्रिकर्म से रहित देह-देवालय में विराजमान आत्म प्रभु का साक्षात्कार हो पाता है (श्लोक 72 भावार्थ)।

8. अन्तर्जल्प के परित्याग एवं आत्म-ज्योति-दर्शन की भावना

स्वात्मा-साधक को प्रेरणा दी गयी है कि वह उक्तानुसार भाव-भूमि में 'मैं ही मैं हूँ' इस प्रकार के अंतरजल्प से सम्बद्ध आत्मज्ञान की कल्पना में ही न उलझा रहे किन्तु इसका भी त्याग कर वचन-अगोचर अविनाशी-ज्योति का स्वयं अवलोकन करना चाहिए (श्लोक 19)। यहाँ विकल्प-रहित स्वात्मदर्शन की भावना भायी है।

आत्मदर्शन का उपाय : विकल्प त्याग

'मैं ही मैं हूँ' इस अंतरजल्प के त्याग के पश्चात् हृदय जिस-जिसका उल्लेख करता चित्र खींचता है, उस-उस को अनात्मा की दृष्टि से - यह आत्मा नहीं है, ऐसा समझ कर छोड़ना चाहिये। उस प्रकार के विकल्पों के उदय न होने पर आत्मा अपने स्वच्छ

चिन्मयरूप में प्रकाशमान होता है (श्लोक 20)। इस प्रकार हृदय में विकल्पों के न उठने पर - विकल्पों के रुकने पर आत्मदर्शन होता है। यह आत्मदर्शन की एक पद्धति है।

वह आत्मज्योति अनन्त पदार्थों के आकार-प्रसार की भूमि होने से विश्वरूप है और छद्मस्थों के लिए अदृश्य-अलक्ष्य होती हुई भी केवल-चक्षुओं से देखी जाती है (श्लोक 21)। यह आत्म-ज्योति स्वभाव से विश्वरूपा है।

आत्म-ज्योति का लक्षण - अंतरवर्ती उपयोग

वह आत्म-ज्योति क्या है? इसके समाधान में पं. आशाधरजी कहते हैं कि 'उस आत्म-ज्योति का लक्षण अहंता-दृष्टा के लिए उसका अंतरवर्ती उपयोग है; क्योंकि आत्मा का उपयोग लक्षण नित्य ही अन्य अचेतनद्रव्यों के लक्षणों से भिन्न है (श्लोक 22)। उपयोग का 'अन्तर्वर्ती' विशेषण आत्मा के साथ उसके तादात्म्य-आत्माभूतता का सूचक है। इसी तथ्य को मुनि रामसिंह ने दोहापाहुड (गाथा 177) में कहा है कि 'जैसे नमक पानी में विलीन हो जाता है वैसे ही यदि चित्त निज शुद्धात्मा में विलीन हो जाये तो जींव समरस रूप समाधिमय हो जाये।

वस्तु-भेद के न्याय के अनुसार जिन दो में परस्पर लक्षण-भेद होता है वे दो एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, जैसे - जल और अनल (अग्नि)। स्वात्मा और राग-द्वेष-मोह व शरीरादिक में यह लक्षणभेद युक्ति-सिद्ध है (श्लोक 23)।

चिन्मय आत्मा के स्व और अर्थ-ग्रहणरूप व्यापार को उपयोग कहते हैं। आत्मा दर्शन और ज्ञान-उपयोग रूप है। श्रुति की दृष्टि से शब्दगत को दर्शनोपयोग और अर्थगत को ज्ञानोपयोग कहते हैं (श्लोक 24)।

भाव या अनुष्ठान के अनुसार उपयोग के तीन भेद हैं - अशुभ, शुभ और शुद्ध उपयोग। राग-द्वेष-मोह के भाव के द्वारा आत्मा की जो क्रिया-परिणति होती है, वह अशुभ उपयोग है। केवली-प्रणीत धर्म में अनुराग रखने रूप जो आत्मा की परिणति होती है, वह शुभ उपयोग है। तथा अपने चैतन्य स्वरूप में लीन होने रूप आत्मा की जो परिणति बनती है, वह शुद्ध उपयोग है (श्लोक 56)। शुभ-अशुभ से परे शुद्ध-उपयोग परम समाधि रूप है।

आत्म-शुद्धि का सूत्र : शुद्ध उपयोग

राग-द्वेष-मोह से आत्मा का उपयोग मलिन और अशुद्ध होता है। शुद्ध-उपयोग से आत्मा की शुद्धि होती है। शुद्ध उपयोग वह कहलाता है जो राग-द्वेष-मोहरहित होता है। इसी की पुष्टि में कहते हैं कि 'जो ध्यानी पुरुष स्वयं अपने शुद्ध-आत्मा में राग, द्वेष तथा मोह से रहित शुद्ध उपयोग को धारण करता है वह शुद्धि को प्राप्त होता है (श्लोक 25)।'

रागादि अविद्या के नाश का सूत्र : उपेक्षा-विद्या

संसार-दु:ख का मूल कारण पर-वस्तुओं से सुख प्राप्ति की कामनारूप अविद्या है जो राग-द्वेष-मोहरूप है। इस अविद्या का छेदन उपेक्षारूप विद्या से होता है। उपेक्षा रागादि के अभाव को कहते हैं। उपेक्षा भाव की वृद्धि के साथ अविद्या का ह्रास और, आत्मगुणों का विकास उत्तरोत्तर होता है। इसी की पुष्टि में कहते हैं कि 'मुझ में जो अविद्या विद्यमान है उसे उपेक्षा नाम की विद्या से निरंतर काटते हुए मुझमें मेरे स्वरूप की प्रकटता होती है और यह प्रकटता क्रम-क्रम से चरम सीमा को भी प्राप्त हो जाती है (श्लोक 42)।' अत: उपेक्षा-भाव धारण करना इष्ट है। समत्व, उपेक्षा एकार्थी हैं।

आत्मानुभूति की प्रक्रिया

स्वात्मा विचार करता है कि पर्याय-दृष्टि से समस्त वस्तुओं के विस्तार-आकार से पूर्ण होता हुआ भी मैं द्रव्य-दृष्टि से एक ही हूँ और निश्चयत: किसी भी शब्द का वाच्य नहीं होकर अनिर्वचनीय हूँ (श्लोक 43)। अतएव उस अनिर्वचनीय परब्रह्म-परमोत्कृष्ट आत्मपद की प्राप्ति के लिए इस सूक्ष्म शब्द-ब्रह्म के द्वारा - 'सोऽहं' इस प्रकार अन्तर्जल्प से - मैं इस मन को संस्कारित करता हूँ (श्लोक 44)। इसमें 'सोऽहं' शब्द-ब्रह्म से मन को संस्कारित करना चाहिये।

पश्चात्, आठ पत्रोंवाले अधोमुख (उलटा) द्रव्यमनरूप कमल में, योग (ध्यान) रूप सूर्य के तेज से विकसित हृदय-कमल के भीतर स्फुरायमान परंज्योति-स्वरूप मैं हूँ, उसका अनुभव करना चाहिए (श्लोक 45)।

उक्त प्रक्रिया में मोहान्धकार के नष्ट होने और इन्द्रिय तथा मन रूप वायु का संचार रुकने पर यह पर-पदार्थों से शून्य तथा सम्यग्दर्शनादि आत्मगुणों से अशून्य मैं ही अन्तर्दृष्टि से मेरे द्वारा दिखाई दे रहा हूँ (श्लोक 46)। इस प्रकार से अपने आपको ही देखता हुआ मैं परम-एकाग्रता को प्राप्त होता हूँ और संवर-निर्जरा दोनों से प्राप्त होनेवाले आनन्द को भोगता हूँ - और इस दृष्टि से संवर और निर्जरा रूप मैं ही हूँ (श्लोक 47)। इस प्रकार स्वरूप में लीन योगी अपने में ही अपना दर्शन करता हुआ परम एकाग्रता को प्राप्त होता है, आत्माधीन आनन्द को भोगता है। इससे पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा और नवीन कर्मों का आगमन (आस्रव) रुक जाता है और सहज आत्म-विकास सधता है।

आत्मानुभवी योगी की सहज विचार परिणति

भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध-स्वात्मा का अनुभव करनेवाला भव्य जीव विचार करता है कि 'शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से अनन्तानन्त चैतन्य शक्ति के चक्र का स्वामी होकर मैं अनादि अविद्या के संस्कार से इन्द्रिय एवं शरीर को अपना स्वरूप

मानकर उसकी वृद्धि-हानि में अपनी वृद्धि-हानि मानता रहा (श्लोक 48-49)। इसी प्रकार स्व-स्त्री, पुत्रादि के शरीर को अपना मानकर उनके सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझ कर भोगा है (श्लोक 50)। अब मुझे अपनी भूल का ज्ञान हुआ और अब मैं भेद-विज्ञान से अपने तथा दूसरों के आत्मा को आत्मरूप से तथा देह को देहरूप से जानता हुआ निर्विकार साम्य सुधा का आस्वादन कर रहा हूँ (श्लोक 51)।

आत्मयोगी की इन्द्रियदशा

आत्मानुभवी योगी का चित्त वस्तुतत्व के विज्ञान से पूर्ण और वैराग्य से व्याप्त रहता है, तब इन्द्रियों की अनिर्वचनीय दशा हो जाती है। उसकी इन्द्रियाँ न मरी हैं, न जीती हैं, न सोती हैं और न जागती हैं (श्लोक 52)। जागृत रहकर भी वे इन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्त नहीं होतीं और विषय अ-ग्रहण में निद्रा जैसी परवशता का कोई कारण नहीं होता। आत्मयोगी का उपयोग तत्व-ज्ञान और वैराग्य के सन्मुख बना रहता है अत: उपयोग की अनुपस्थिति में वे जागृत रहकर भी मृत समान बनी रहती हैं। योगी की इस रहस्यमयता के कारण कर्मोदयजन्य भोग निर्जरा का निमित्त बनता है।

पुरातन संस्कारों के जाग उठने से चित्त में संकल्प-विकल्प जागृत होने पर भी अन्तरंग में विशद ज्ञानरूप शुद्ध उपयोग की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रहेगी और क्या वह कल्पना स्थित किसी वस्तु का स्मरण करेगी? अर्थात् नहीं करेगी? (श्लोक 53)।

स्वानुभूति-वृद्धि की भावना

आत्मयोगी अपनी स्वानुभूति की वृद्धि की उत्तरोत्तर भावना भाता है और अपने आपको अनुभव करता हुआ राग-द्वेषादि हेय को छोड़कर आदेय, जो निजस्वरूप है, को ग्रहण कर रत्नत्रयात्मक निज भाव का भोक्ता बना रहे, ऐसी भावना करता है (श्लोक 54)।

शुद्धोपयोग कैसे होता है? किस क्रम से होता है?

शुद्ध-स्वात्मा सर्वप्रथम अशुभ उपयोग के त्याग सहित श्रुताभ्यास के द्वारा शुभ उपयोग का आश्रय करता है, पश्चात् शुद्ध उपयोग में ही अधिकाधिक स्थिर रहूँ, ऐसी श्रेष्ठ निष्ठा, भावना भाता है और उसे धारण करता है (श्लोक 55)। इस प्रकार अशुभ भावों के त्याग और शास्त्राभ्यास (स्वाध्याय) रूप शुभ भावों की प्रवृत्ति सहित शुद्ध उपयोग होता है। अशुभ से निवृत्ति और व्रत-समिति-गुप्ति रूप शुभ में प्रवृत्ति का नाम व्यवहार चारित्र है। शुद्ध उपयोग शुद्धात्मा के आश्रयपूर्वक होता है। अत: शुद्ध उपयोग हेतु शुद्धात्मा की भावना भाना इष्ट है।

शुद्धात्मभावना का फल

जो शुद्ध स्वरूप परमात्मा है, 'वही शुद्ध स्वरूप मैं हूँ', इस प्रकार बारम्बार भावना करनेवाले आत्म के शुद्ध स्वात्मा में जो लय बनता है, वह अनिर्वचनीय योग या समाधिरूप

ध्यान कहलाता है (श्लोक 57)। शुद्ध स्वात्मा के अनुभव काल में राग-द्वेषादि की कल्लोलें नहीं उठतीं अन्यथा आत्मदर्शन नहीं हो पाता। इस प्रकार शुद्धात्म-भावना का फल शुद्धात्मा की प्राप्ति है।

शुद्ध-बुद्ध-स्वचिद्रूप परमानन्द में लीन हुआ योगी किसी भी भय को प्राप्त नहीं होता। वह निर्भय हुआ परमानन्द का ही अनुभव करता है (श्लोक 58)।

ऐसा योगी परम एकाग्रता को प्राप्त हुआ तथा अशुभ आस्रव को रोकता हुआ और उपार्जित पाप का क्षय करता हुआ जीवित रहता हुआ भी निवृत्ति-जीवन्मुक्त है (श्लोक 59)। जीवन्मुक्त-अवस्था को प्राप्त करानेवाली यह परम-एकाग्रता शुक्लध्यान की एकाग्रता है जिससे चार घातिया कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं। ध्यान की एकाग्रता अभिनन्दनीय है।

सभी जन अध्यात्म-रहस्य में गुंफित अध्यात्म-योग-विद्या से स्वात्मा से परब्रह्म-स्वरूप को प्राप्त करें, यही भावना है जो पण्डितप्रवर आचार्यकल्प आशाधरजी को इष्ट था।

- बी-369, ओ.पी.एम. कॉलोनी
अमलाई-484117
जिला-शहडोल (म.प्र.)

▲▲▲

जिनवाणी

यत्प्रसादान्न जातु स्यात् पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।
तां पूजयेज्जगत्पूज्यां स्यात्कारोड्डमरां गिरम्॥ 2.43 ॥ सा.ध.

- जिसके प्रसाद से कभी भी पूज्य अर्हन्त-सिद्ध-साधु और धर्म की पूजा में यथोक्त विधि का लंघन नहीं होता, उस जगत् में पूज्य और स्यात् पद के प्रयोग के द्वारा एकान्तवादियों से न जीते जा सकनेवाले श्रुतदेवता (जिनवाणी) को पूजना चाहिये।

ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम्।
न किंचिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः॥ 2.44 ॥ सा.ध.

- जो भक्तिपूर्वक श्रुत को पूजते हैं वे परमार्थ से जिनदेव को ही पूजते हैं। क्योंकि सर्वज्ञदेव ने श्रुत (जिनवाणी) और देव में थोड़ा-सा भी भेद नहीं कहा है।

अनु. - **पं. कैलाशचन्द शास्त्री**

पण्डितप्रवर आशाधर के सागारधर्मामृत की प्रमुख विशेषताएँ

— डॉ. रमेशचन्द जैन

■

जैनागम में निष्णात पण्डितप्रवर आशाधर तेरहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान थे। उनका 'सागारधर्मामृत' उनके वैदुष्य का परिचायक तो है ही, साथ ही उनके विस्तृत स्वाध्याय और निपुणमति को भी द्योतित करता है। उन्होंने अपने समय तक लिखे गए सभी श्रावकाचारपरक ग्रन्थों का अध्ययन किया था। वे ब्राह्मण साहित्य के भी गवेषी विद्वान् थे। तत्कालीन समाज की आवश्यकता का भी उन्हें ध्यान था। अत: उनका सागारधर्मामृत एक ऐसी रचना बन गई जिसका अध्ययन करने पर पूर्ववर्ती श्रावकाचारों का अध्ययन अपने आप हो जाता है। इसके अतिरिक्त उनके कथनों की अपनी विशेषतायें भी हैं, जिन पर प्रकाश डाला जाता है -

भद्र का लक्षण - पण्डित आशाधरजी के समय तक ज्ञान का ह्रास हो चुका था। सच्चे उपदेश देनेवाले दुर्लभ थे। अपनी पीड़ा को वे इन शब्दों में व्यक्त करते हैं -

कलिप्रावृषि मिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह।
खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित्॥ 1.7॥

बड़े दु:ख की बात है, इस भरत क्षेत्र में पंचम कालरूपी वर्षाकाल में सदुपदेश रूपी दिशाओं के मिथ्या उपदेशरूपी बादलों से व्याप्त हो जाने पर सदुपदेश

देनेवाले गुरु जुगनुओं के समान कहीं-कहीं पर दिखते हैं। अर्थात् सब जगह नहीं मिलते हैं।

इस पञ्चमकाल में भरतक्षेत्र में भद्रपरिणामी मिथ्यादृष्टि को भी अच्छा मानते हैं अर्थात् उपदेश देने योग्य मानते हैं, सम्यग्दृष्टियों के मिलने पर तो कहना ही क्या; क्योंकि सुवर्ण के नहीं प्राप्त होने पर सुवर्ण-पाषाण की प्राप्ति के लिए कौन पुरुष इच्छा नहीं करेगा? अपितु इच्छा करेगी ही।[1]

कुधर्म में स्थित होने पर भी मिथ्यात्वकर्म की मन्दता से समीचीन धर्म से द्वेष नहीं करनेवाला भद्र कहा जाता है। वह भद्र द्रव्यनिक्षेप की अपेक्षा अर्थात् भविष्यकाल में सम्यक्त्व गुण की प्राप्ति के योग्य होने से उपदेश देने योग्य है, परन्तु भविष्य में सम्यक्त्व गुण की प्राप्ति के योग्य नहीं होने से अभद्र उपदेश देने के योग्य नहीं है।[2]

जिसप्रकार वज्र की छिद्र करनेवाली सूची से छेद को प्राप्तकर कान्तिहीन मणि डोरे की सहायता से कान्तियुक्त मणियों में प्रवेश कर जाती है तो कान्तिहीन होते हुए भी कान्तिमान् मणियों की संगति से उन (कान्तिमान मणि) के समान मालूम पड़ती है। उसी प्रकार सद्गुरु के वचनों के द्वारा परमागम के जानने के उपाय स्वरूप सुश्रूषादि गुणों को प्राप्त होनेवाला भद्र मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि अंतरंग में मिथ्यात्वकर्म के उदय के कारण यथार्थ श्रद्धान से हीन है तो भी कान्तिमान मणिरूपी सम्यग्दृष्टियों के मध्य में सांव्यवहारिक जीवों को सम्यग्दृष्टि के समान प्रतिभासित होता है।[3]

गृहस्थ धर्म का धारक - सागारधर्मामृत में गृहस्थ धर्म को धारण करनेवाले के जो लक्षण निर्धारित किए गए हैं, उनमें पहला लक्षण है -

न्यायोपात्तधन - अर्थात् उसे न्याय से धनोपार्जन करनेवाला होना चाहिए। आज के श्रावक प्रायः इस लक्षण को भूलकर येन-केन-प्रकारेण धनोपार्जन कर अपने को सुखी मानना चाहते हैं, किन्तु अन्यायोपार्जित धन से कोई व्यक्ति सुखी नहीं हो सकता।

सद्गृहस्थ के अन्तिम लक्षण में उसे अघभी[4] - पाप से डरनेवाला कहा गया है। आज लोक पाप से भय नहीं मानते हैं। अनेक ऐसे हैं, जो पाप को पाप ही नहीं मानते हैं। ऐसे लोगों के लिए यह लक्षण बहुत उपयोगी है।

पक्ष, चर्या और साधन के स्वरूप - पण्डितप्रवर आशाधरजी ने पक्ष, चर्या और साधन का जो स्वरूप निर्धारित किया है, वह उनका अपना मौलिक चिन्तन है, तथापि जैनागम के साथ उसकी किसी प्रकार की विसंगति नहीं है। धर्मादि के लिए मैं संकल्पपूर्वक त्रस प्राणियों का घात नहीं करूँगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके मैत्री, प्रमोद

आदि भावनाओं से वृद्धि को प्राप्त हो सम्पूर्ण हिंसा का त्याग करना पक्ष कहलाता है। अनन्तर कृषि आदि से उत्पन्न हुए दोषों को विधिपूर्वक दूर कर अपने पोष्य धर्म तथा धन का भार अपने पुत्र पर छोड़नेवाले के चर्या होती है और चर्यादि में लगे हुए दोषों को प्रायश्चित्त के द्वारा दूर करके मरण समय में आहार, मन, वचन, काय सम्बन्धी व्यापार और शरीर से ममत्व के त्याग से उत्पन्न होनेवाले निर्मल ध्यान से आत्मा के राग-द्वेष को दूर करना साधन होता है।[5]

श्रावक के तीन भेद - पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक के भेद से श्रावकों का तीन भागों में विभाजन आशाधरजी की मौलिक विशेषता है। श्रावकधर्म को ग्रहण करनेवाला पाक्षिक है तथा उसी श्रावक धर्म में जिसकी निष्ठा है, वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है और आत्मध्यान में लीन होकर समाधिमरण करनेवाला साधक कहलाता है।[6]

अष्टमूलगुण - रत्नकरण्ड श्रावकाचार में पञ्च अणुव्रतों को धारण करने के साथ-साथ मद्य, मांस, मधु के त्याग को अष्टमूलगुण कहा है।[7] आशाधरजी का कहना है कि जिनेन्द्र भगवान का श्रद्धालु श्रावक हिंसा को छोड़ने के लिए मद्य, मांस और मधु को तथा पाँच उदम्बर फलों को छोड़े।[8] कोई आचार्य स्थूल हिंसादि का त्यागरूप पाँच अणुव्रत और मद्य, मांस, मधु के त्याग को अष्टमूलगुण कहते हैं अथवा इन्हीं मूलगुणों में मधु के स्थान में जुआ खेलने का त्याग करना मूलगुण कहा है।[9]

मद्य, मांस, मधु का त्याग, रात्रि-भोजन का त्याग और पञ्च-उदुम्बर फलों का त्याग ये पाँच और त्रैकालिक देववन्दना, जीवदया और पानी छानकर पीना - कहीं-कहीं ये अष्ट मूलगुण माने गए हैं।[10]

इस प्रकार आशाधरजी ने अष्टमूलगुण के सन्दर्भ में अपने समय तक प्रचलित सभी मतों का उल्लेख कर सबका समाहार किया है। इन अष्टमूलगुणों का पालन करनेवाला व्यक्ति ही जिनधर्म सुनने के योग्य होता है।[11] इन गुणों का पालन जिनपरम्परानुसार करनेवाले तथा मिथ्यात्वकुल में उत्पन्न हो करके भी जो इन गुणों के द्वारा अपनी आत्मा को पवित्र करते हैं, वे सब समान ही होते हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं होता है।[12]

मांस और अन्न दोनों प्राणी के अंग होने पर भी मांस त्याज्य क्यों है - कुछ लोगों का कहना है जिस प्रकार मांस प्राणी का अंग है, उसी प्रकार अन्न भी प्राणी का अंग है, अत: दोनों के खाने में दोष है। ऐसे व्यक्तियों के प्रति आशाधरजी ने एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है -

प्राण्यङ्गत्वे समेऽप्यन्नं भोज्यं मांसं न धार्मिकैः।
भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैवनाम्बिका॥ 2.10॥

प्राणी के अंग की अपेक्षा मांस और अन्न में समानता होते हुए भी धर्मात्मा के द्वारा अन्न खाने योग्य है, किन्तु मांस खाने योग्य नहीं है; जैसे - स्त्रीत्वरूप सामान्य धर्म की अपेक्षा स्त्री और माता में समानता होने पर पुरुषों के द्वारा स्त्री भोग्य है, माता भोग्य नहीं है।

निम्न जाति का व्यक्ति भी श्रावक धर्म धारण करने का अधिकारी है - उपकरण, आचार और शरीर की पवित्रता से युक्त निम्न जाति का व्यक्ति भी जिनधर्म सुनने का अधिकारी है; क्योंकि जाति से हीन भी आत्मा कालादिलब्धि के आने पर श्रावकधर्म की आराधना करनेवाला होता है।[13]

गृहस्थ को चिकित्साशाला, अन्न तथा जल का वितरण करने का स्थान तथा वाटिकादि बनवाने का विधान - पाक्षिक श्रावक द्वारा दु:खी प्राणियों का उपकार करने की इच्छा से चिकित्साशाला के समान दया के विषयभूत अन्न और जल के वितरण करने के स्थान को बनवाने तथा बगीचा आदि का बनवाना भी दोषाधायक नहीं है।[14]

जिनदेव और जिनवाणी में कोई अन्तर नहीं है - जो भक्तिपूर्वक जिनवाणी की पूजा करते हैं वे मनुष्य वास्तव में जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते हैं; क्योंकि (गणधरदेव ने) जिनवाणी और जिनेन्द्रदेव में कुछ भी अन्तर नहीं कहा है।[15]

जैनों के चार भेद - नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव की अपेक्षा जैन चार प्रकार के होते हैं। नाम से और स्थापना से भी जैन उत्कृष्ट पात्र के समान आचरण करते हैं। द्रव्य से वह जैन पुण्यवान् पुरुषों को ही प्राप्त होता है। परन्तु भाव से जैन तो महाभाग्यवान् पुरुषों के द्वारा ही प्राप्य है।[16]

गृहस्थ सुकलत्र के साथ विवाह करे - धर्मसन्तति, संक्लेशरहित रति, वृत्त-कुल की उन्नति और देवादि की पूजा को चाहनेवाला श्रावक यत्नपूर्वक प्रशंसनीय उच्चकुल की कन्या को धारण करे अर्थात् उसके साथ विवाह करे।[17] योग्य स्त्री के बिना पृथ्वी, सोना आदि का दान देना व्यर्थ है। जड़ में कीड़ों के द्वारा खाए हुए वृक्ष में जल के सींचने से क्या उपकार है? अर्थात् कुछ नहीं।[18]

ज्ञानी और तपस्वी दोनों की पूजा करें - तप का कारण होने से ज्ञान पूज्य है। ज्ञान के अतिशय में कारण होने से तप पूजनीय है। मोक्ष का कारण होने से दोनों ही पूज्य हैं। गुणानुसार ज्ञानी और तपस्वी भी पूजनीय हैं।[19]

मुनि बनाने का यत्न करें - सद्गृहस्थ जगत् के बन्धु जिनधर्म की सत्प्रवृत्ति चलाने के लिए मुनि बनाने का प्रयत्न करें तथा जो वर्तमान में मुनि हैं, इनका श्रुतज्ञानादिक गुणों के द्वारा उत्कर्ष बढ़ाने का प्रयत्न करें।[20]

जब तक विषय सेवन में नहीं आए तब तक के लिए उसका त्याग करें - जब तक विषय सेवन करने में नहीं आते हैं, तब तक उन विषयों का अप्रवृत्ति रूप से नियम करे अर्थात् जब तक मैं इन विषयों में प्रवृत्ति नहीं करूँगा तब तक मुझे इनका त्याग है, ऐसा नियम करें। यदि कर्मवश व्रतसहित मर गया तो परलोक में सुखी होता है।[21]

भलीभाँति सोच-विचार कर नियम लेना चाहिए - देश, काल आदि को देखकर व्रत लेना चाहिए। ग्रहण किये हुए व्रतों का प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए। मदावेश से अथवा प्रमाद से व्रतभंग होने पर शीघ्र ही प्रायश्चित्त लेकर पुनः व्रत ग्रहण करना चाहिए।[22]

हिंसक प्राणी का, सुखी-दुःखी प्राणी का घात न करें - कोई कहते हैं कि सर्पादि किसी एक हिंसक प्राणी का घात करने से बहुत से जीवों की रक्षा होती है, यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि जो हिंसक जीव को मारता है वह भी तो हिंसक है, फिर कोई उस हिंसक को भी मारना चाहेगा! वह मारनेवाला भी हिंसक होगा। इस प्रकार अतिप्रसङ्ग दोष प्राप्त होता है।

कोई कहते हैं कि सुखी प्राणी को मारना चाहिए; क्योंकि सुखी प्राणी मरकर परभव में भी सुखी होता है। ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि सुखी प्राणी को मारने से वर्तमान में प्रत्यक्ष सुख का नाश होता है और वह दुर्ध्यान से मरकर दुर्गति में भी जा सकता है। अतः सुखी प्राणी को भी नहीं मारना चाहिए।

कोई कहते हैं कि दुःखी जीव को मार देना चाहिए, जिससे वह दुःख से मुक्त हो जायगा; ऐसा विचार कर दुःखी जीवों को मारना भी ठीक नहीं है। कयेंकि तिर्यञ्च-मानुष सम्बन्धी दुःख तो अल्प हैं। उन स्वल्प दुःख का नाश करने के विचार से दुःखी जीव का घात किया और वह मरकर नरक में गया तो महादुःखी होगा, अतः दुःखी को भी नहीं मारना चाहिए। पं. आशाधरजी ने कहा है -

हिंस्रदुःखिसुखिप्राणि घातं कुर्यान्न जातुचित्।
अतिप्रसङ्गश्वभ्रार्ति सुखोच्छेदसमीक्षणात्॥ 2.83॥

अतिप्रसङ्ग, नरक सम्बन्धी दुःख तथा सुख का उच्छेद देखा जाता है, इसलिए कल्याणेच्छुक मानव कभी भी हिंसक, दुःखी तथा सुखी किसी भी प्राणी का घात न करे।

देशसंयमी के तीन भेद - देशसंयमी तीन प्रकार का होता है - प्रारब्ध, घटमान और निष्पन्न।[23] प्रारब्ध का अर्थ उपक्रान्त है अर्थात् शुरू किया है जिसने। घटमान का अर्थ है - ग्रहण किए हुए व्रतों का निर्वाह करनेवाला और निष्पन्न का अर्थ पूर्णता को प्राप्त। सारांश

यह है कि पाक्षिक श्रावक व्रतों का अभ्यास करता है, इसलिए वह प्रारब्ध देशसंयमी है। नैष्ठिक प्रतिमाओं के व्रतों का क्रम से पालन करता है अत: वह घटमान है। और साधक आत्मलीन होता है अत: वह निष्पन्न देशसंयमी है।

धर्म के विषय में धर्मपत्नी को सबसे अधिक व्युत्पन्न करना चाहिए - दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक उत्कृष्ट प्रेम को करता हुआ अपनी धर्मपत्नी को धर्म में अपने कुटुम्ब की अपेक्षा अतिशय रूप से व्युत्पन्न करे; क्योंकि मूर्ख अथवा विरुद्ध स्त्री धर्म से पुरुष को परिवार के लोगों की अपेक्षा अधिक भ्रष्ट कर देती है।[24]

स्त्री की उपेक्षा नहीं करना चाहिए - पति के द्वारा की गई उपेक्षा ही स्त्रियों में उत्कृष्ट वैर का कारण होता है, इसलिए इस लोक और परलोक में सुख को चाहनेवाला पुरुष कभी भी स्त्री को उपेक्षा की दृष्टि से न देखे।[25]

नैष्ठिक श्रावक गो आदि जानवरों से जीविका छोड़े - नैष्ठिक श्रावक गो, बैल आदि जानवरों द्वारा अपनी आजीविका छोड़े। यदि ऐसा करने में असमर्थ हो तो उन्हें बन्धन, ताड़न आदि के बिना ग्रहण करे। यदि ऐसा करने में असमर्थ हो तो निर्दयतापूर्वक उस बन्धनादिक को न करे।[26]

मुनियों को दान देने के प्रभाव से गृहस्थ पंचसूनाजन्य पाप से मुक्त हो जाता है - पीसना, कूटना, चौका-चूली करना, पानी रखने के स्थान की सफाई और घर-द्वार को बुहारना - ये गृहस्थों की पञ्चसूना क्रियायें हैं। इनसे गृहस्थ जो पाप संचय करता है, वह मुनियों को विधिपूर्वक दान देने से धो डालता है अर्थात् उसके पाप नष्ट हो जाते हैं।[27]

श्रावक की दिनचर्या - पण्डितप्रवर आशाधरजी ने श्रावक की प्रतिदिन की क्या चर्या होनी चाहिए, इसका सुन्दर निरूपण सागारधर्मामृत के छठे अध्याय में किया है। यह वर्णन अन्य श्रावकाचारों में विरल है।

ब्राह्म मुहूर्त में उठकर पहिले नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिए, तदनन्तर 'मैं कौन हूँ', 'मेरा धर्म क्या है' और 'क्या व्रत है', इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए। अनादि काल से संसार में भ्रमण करते हुए मैंने अर्हन्त भगवान के द्वारा कहे हुए इस श्रावक धर्म को कठिनाई से प्राप्त किया है। इसलिये इस धर्म में प्रमादरहित प्रवृत्ति करना चाहिए। इस प्रकार प्रतिज्ञा करके शय्या से उठकर स्नानादि से पवित्र होकर एकाग्र मन से समता परिणामरूपी अमृत के द्वारा श्रावक ऐश्वर्य और दरिद्रपना पूर्वोपार्जित कर्मानुसार होते हैं ऐसा विचार करता हुआ जिनालय जावे।

अपनी शक्ति के अनुसार भगवान की पूजा-सामग्री को लेकर श्रावक धर्माचरण सम्बन्धी उत्साह के साथ 'नि:सही' शब्द का उच्चारण करता हुआ उस मन्दिर में प्रवेश करे।

जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार कर उसके आस्रव को करने वाली स्तुतियों को पढ़ता हुआ तीन बार प्रदक्षिणा करे। अरहंत भगवान् की पूजा करके देव-वन्दना करे। पूजा आदि कार्यों की निवृत्ति हो जाने के बाद शान्तिभक्ति बोलकर अपनी शक्ति के अनुसार भोगोपभोग सामग्री का नियम करके 'भगवान पुन: दर्शन मिले', 'समाधिमरण हो' ऐसी प्रार्थना करके जाने के लिए प्रभु को नमस्कार करे।

वह श्रावक विधिपूर्वक स्वाध्याय करे। अरहन्त भगवान के वचनों का व्याख्यान करनेवालों को तथा पढ़नेवालों को बार-बार प्रोत्साहित करे। विपत्ति से आक्रान्त दीन जनों को विपत्ति से छुड़ावे, जिनगृह के मध्य हँसी, शृंगारादि चेष्टा को, चित्त को कलुषित करने वाली कथाओं को, कलह को, निद्रा को, थूकने को तथा चार प्रकार के आहार को छोड़े। पूजादि क्रियाओं के अनन्तर हिताहितविचारक श्रावक द्रव्यादि के उपार्जन योग्य दुकानादि में जाकर अर्थोपार्जन में नियुक्त पुरुषों की देखभाल करे अथवा धर्म के अविरुद्ध स्वत: व्यवसाय करे।

वह श्रावक पुरुषार्थ के निष्फल, अल्पफल तथा विपरीत फलवाला हो जाने पर भी न विषाद करे तथा लाभ हो जाने पर हर्षित भी न हो।

वह श्रावक, प्राणियों को परस्पर लड़ाना, फूलों को तोड़ना, जलक्रीड़ा, झूला में झुलाना आदि क्रिया को छोड़ दे तथा इनके समान हिंसा की कारणभूत दूसरी क्रियाओं को भी छोड़ दे।

मध्याह्नकाल में अपने हृदय में भगवान को विराजमान करके अपनी शक्ति अनुसार भगवान का ध्यान करे। अपनी शक्ति और भक्ति के अनुसार मुनि आर्यिकादिक पात्रों को तथा अपने आश्रितों को सन्तुष्ट करके अपनी प्रकृति के अविरुद्ध भोजन करे। व्याधि की उत्पत्ति न होने देने में तथा उत्पन्न हो गई हो तो उसके नाश करने के लिए प्रयत्न करे; क्योंकि वह व्याधि ही संयम का घात करनेवाली है। भोजन करने के बाद श्रावक थोड़ी देर विश्रांति लेकर गुरु, सहपाठी और अपना चाहनेवालों के साथ जिनागम के रहस्य का विनयपूर्वक विचार करे।

सन्ध्याकालीन आवश्यक कर्मों को करके देव और गुरु का स्मरण करके वह श्रावक उचित समय में थोड़ी देर शयन करे तथा अपनी शक्ति अनुसार मैथुन को छोड़ दे। वह श्रावक रात्रि में निद्रा के भङ्ग हो जाने पर फिर वैराग्य के द्वारा तत्क्षण मन को संस्कृत

करे; क्योंकि जिसने वैराग्य का भली प्रकार अभ्यास किया हुआ है ऐसा आत्मा शीघ्र ही प्रशम सुख का अनुभव करता है।

पुण्य-पाप कर्म के विपाक से शरीर होता है। शरीर में इन्द्रियाँ होती हैं और इन इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होता है और स्पर्शादि विषय को ग्रहण करने से पुनः बन्ध होता है। इसलिए मैं इस बन्ध के कारणभूत विषयग्रहण को मूल से नाश करता हूँ। ज्ञानियों की संगति तप और ध्यान के द्वारा भी जो असाध्य है अर्थात् वश में नहीं किया जानेवाला काम शत्रु शरीर और आत्मा का भेदज्ञान से उत्पन्न हुए वैराग्य के द्वारा ही वश में किया जाता है - इस प्रकार चिन्तन करे।

---

1. सागारधर्मामृत, 1.8
2. वही, 1.9
3. वही, 1.10
4. न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्ग भज-
   न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः।
   युक्ताहारविहारआर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञोवशी
   शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत्॥ 1.11॥ वही
5. वही, 1.19
6. वही, 1.20
7. रत्नकरण्डश्रावकाचार, आचार्य समन्तभद्र, 66
8. सागारधर्मामृत, 2.2
9. वही, 2.3
10. वही, 2.18
11. वही, 2.19
12. वही, 2.20
13. वही, 2.22
14. वही, 2.40
15. ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम्।
    न किंचिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः॥ 2.44॥ वही
16. वही, 2.54
17. वही, 2.60

18. वही, 2.61
19. वही, 2.66
20. वही, 2.71
21. वही, 2.77
22. वही, 2.79
23. वही, 3.6
24. वही, 3.26
25. वही, 3.27
26. वही, 4.16
27. वही, 5.49

- जैन मन्दिर के पास
बिजनौर (उ.प्र.)

▲▲▲

अनिष्टाश्च त्यजेत्सर्वा

पार्श्वे गुरुणां नृपवत्प्रकृत्यभ्यधिकाः क्रियाः।
अनिष्टाश्च त्यजेत्सर्वा मनो जातु न दूषयेत्॥ 2.47 ॥ सा.ध.

- राजा की तरह गुरुओं के पास अस्वाभाविक तथा शास्त्रनिषिद्ध समस्त चेष्टाओं को नहीं करना चाहिये। गुरु के मन को भी कभी भी दूषित नहीं करना चाहिये।

अर्थात् - गुरुओं के सामने थूकना, सोना, जँभाई लेना, शरीर ऐंठना, झूठ बोलना, ठठोली करना, हँसना, पैर फैलाना, दोष लगाना, ताल ठोकना, ताली बजाना, विकार करना, अंग-संस्कार करना आदि नहीं करना चाहिये।

मध्ये जिनगृहं हासं विलासं दुःकथां कलिम्।
निद्रां निष्ठ्यूतमाहारं चतुर्विधमपि त्यजेत्॥ 6.14 ॥ सा.ध.

- जिनालय में हास्य, शृंगारयुक्त चेष्टारूप विलास, खोटी कथा, कलह, निद्रा, थूकना और चारों प्रकार का आहार आदि कार्य नहीं करना चाहिये।

अनु. - **पं. कैलाशचन्द शास्त्री**

कर्मकाण्डी पण्डितप्रवर आशाधर

— डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

■

दिगम्बर परम्परा में कर्मकाण्ड की महिमा को मुखरित करनेवाले प्राचीन जैन आचार्यों में पं. आशाधर की द्वितीयता नहीं है। वे अपने युग के बहुश्रुत विद्वान थे। जैनाचार, अध्यात्म, दर्शन, काव्य, साहित्यशास्त्र, कोश, राजनीति, कामशास्त्र, कर्मकाण्ड, आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों में इन्हें पारगामिता प्राप्त थी। वे कर्मयोगी गृहस्थ थे।

माण्डलगढ़ (मेवाड़) के मूलनिवासी पं. आशाधर का विक्रम की तेरहवीं शती के अन्त में ज्योतिर्मय लोकावतरण हुआ था। आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री की कालोत्तीर्ण ऐतिहासिक कृति 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' से यह सूचना प्राप्त होती है कि पं. आशाधर के समय मेवाड़ पर मुगल बादशाह शहाबुद्दीन गोरी का आक्रमण हुआ था, जिससे त्रस्त होकर उन्होंने मेवाड़ छोड़ दिया था और वे सपरिवार मालवा की प्राचीन राजधानी धारा नगरी में जाकर बस गये थे। वे बघेरवाल जाति के श्रावक थे। उन्होंने धारा नगरी में प्रसिद्ध विद्यागुरु पं. महावीरजी से न्याय और व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था।

पं. आशाधर यद्यपि स्वयं गृहस्थ थे तथापि उनकी प्रतिष्ठा एक तपोनिष्ठ साधु से कम नहीं थी। बड़े-बड़े मुनियों और भट्टारकों ने इनकी शिष्यता स्वीकार की थी। उनके समय

के भट्टारक विद्वानों ने उनके पाण्डित्य की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की है और उन्हें 'नयविश्वचक्षु', 'कलि-कालिदास', 'प्रज्ञापुंज' आदि उपाधियों से सम्बोधित किया है। जैनेतर विद्वान् भी उनकी विद्वत्ता के वशंवद थे।

पं. आशाधर कर्मकाण्ड में निष्णात विद्वान थे, इस बात का संकेत उनके 'जिनयज्ञकल्प' नाम के ग्रन्थ से मिलता है। इस ग्रन्थ में विभिन्न प्रकार की धार्मिक विधियों का वर्णन छह अध्यायों में किया गया है। उदाहरणार्थ - यज्ञ दीक्षाविधि, मण्डप-प्रतिष्ठाविधि, वेदी-प्रतिष्ठाविधि, अभिषेक-विधि, विसर्जन-विधि, ध्वजारोहण-विधि, आचार्य-प्रतिष्ठाविधि, सिद्ध प्रतिमा-प्रतिष्ठाविधि, श्रुतदेवता प्रतिष्ठाविधि, यक्षादि प्रतिष्ठाविधि आदि उल्लेखनीय हैं।

पं. आशाधर ने अनेक कृतियों की रचना की है। परन्तु मूलत: वे रचनाकार से अधिक टीकाकार थे। उनके लगभग सात टीका-ग्रन्थ हैं - मूलाराधना-टीका, इष्टोपदेश टीका, भूपाल चतुर्विंशति टीका, आराधनासार टीका, अमरकोश टीका, काव्यालंकार टीका और अष्टांगहृदयोद्योतिनी टीका। उन्होंने अपने मूलग्रन्थ भी प्राय: सटीक ही लिखे हैं - 'सागारधर्मामृत सटीक, अनगार धर्मामृत सटीक, सहस्रनाम स्तवन सटीक आदि। उनके प्राप्य टीकाग्रन्थों और मूलग्रन्थों की कुल संख्या बीस है, इसका उल्लेख आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपनी महत्कृति 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, खण्ड 4' में किया है।

पं. आशाधर का 'श्रीमहामृत्युंजय पूजा विधान' नाम का ग्रन्थ भी उपलब्ध है, जिसका संकलन आचार्य विमलसागर मुनिराज ने किया है और इसका भव्य प्रकाशन 'भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्' से हुआ है। इस 'पूजा-विधान' में तीर्थंकर ही महामृत्युंजय-स्वरूप हैं।

पण्डितप्रवर आशाधर का प्रमुख सारस्वत अवदान है - अनगारिकों और अगारिकों, अर्थात् श्रमणों और श्रावकों के लिए विहित धर्मों का पुंखानुपुंख विवेचन। इस सन्दर्भ में उनका महाग्रन्थ (कुल पद्य संख्या दो हजार) - धर्मामृत विश्वविश्रुत है। अवश्य ही, इस ग्रन्थ का प्रकारान्तर से कर्मकाण्डीय महत्त्व है।

भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से प्रकाशित इन दोनों ग्रन्थों के तृतीय संस्करण के प्रधान सम्पादकीय (लेखक : पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री एवं श्री ज्योतिप्रसाद जैन, प्रथम संस्करण, सन् 1977 ई. से संकलित) से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है। 'अनगार धर्मामृत' प्रथम भाग का नाम है और द्वितीय भाग का नाम है 'सागारधर्मामृत'। ग्रन्थकार पं. आशाधर ने स्वयमेव मूल श्लोकों के साथ संस्कृत में 'भव्यकुमुद चन्द्रिका' नाम की टीका और 'ज्ञानदीपिका' नाम की पंजिका लिखी है। 'पंजिका' का लक्षण है -

पदभंजिका। पूर्ण श्लोक की अपेक्षा कुछ पदों का विश्लेषण ही 'पंजिका' है। टीका और पंजिका का वैशिष्ट्य यह है कि प्रथम यदि मूल श्लोकों की व्याख्या करती है, तो द्वितीय मूल में लागत विषयों को विशेष रूप से स्पष्ट करने तथा तत्सम्बद्ध अन्य आवश्यक जानकारी देने के लिए ग्रन्थान्तरों से उद्धरण उपन्यस्त करती है। इस प्रकार, मूलग्रन्थ से भी अधिक इसकी टीकाओं का महत्त्व है।

दिगम्बर जैन-परम्परा के साधुवर्ग और गृहस्थवर्ग में जिस आचार-धर्म का पालन किया जाता है, उसकी जानकारी के लिए आचार्यकल्प पं. आशाधर का 'धर्मामृत' एक कालोत्तीर्ण कृति है। जैन परम्परा और प्रवृत्ति के इस मर्मज्ञ मनीषी ने जैनाचार से सम्बद्ध पूर्ववर्त्ती समग्र आकर-साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन किया था, जिसे उन्होंने अपने 'धर्मामृत' में प्रामाणिक, विश्वसनीय और सुव्यवस्थित रीति से उपस्थापित किया है।

पं. आशाधर ने गृहत्यागी साधु के लिए 'अनगार' और गृहस्थ श्रावक के लिए 'सागार' शब्द का प्रयोग किया है। ये दोनों ही शब्द पूर्वाचार्य-सम्मत हैं। पं. आशाधर के 'धर्मामृत' में इन्हीं दोनों के धर्म वर्णित हैं।

'अनगार' और 'सागार' की विवेचना में 'तत्त्वार्थसूत्र' की टीका 'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है कि 'अगार' का तात्पर्य भावागार से है। मोहवश घर से जिसका राग नहीं मिटा है, वह वन में रहते हुए भी 'सागार' या 'अगारी' है और जिसका राग मिट गया है, वह शून्यगृह आदि में रहने पर भी 'अनगार' या 'अनगारी' है। 'अनगार' साधु पाँच महाव्रतों - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पूर्ण रूप से पालन करते हैं। ये दिगम्बर परम्परा के 'अनगार' अपने लिए केवल दो उपकरण रखते हैं - त्रसजीवों की रक्षा के लिए मोरपंख से निर्मित 'पिच्छी' और शौच आदि के लिए 'कमण्डलु'। ये शरीर से सर्वथा नग्न रहते हैं और श्रावक के घर पर ही दिन में एकबार, खड़े होकर, हाथों की अंजलि को पात्र बनाकर भोजन लेते हैं।

पं. आशाधरजी के विचारों में श्रुत-परम्परा की स्वीकृति अवश्य है, पर उनमें मौलिकता भी है। उन्होंने धर्म को ही अमृत कहा है। अमृत के विषय में यह पारम्परिक मान्यता है कि वह अमरता प्रदान करता है। 'अमृत' का अर्थ भी अमरता (अ-मृत) से जुड़ा हुआ है। परन्तु अमरता देनेवाली 'अमृत' नाम की किसी वस्तु की सत्ता का सर्वथा अभाव है। दार्शनिक जगत् के प्राय: सभी अनुसन्धाता परलोक के अस्तित्व और आत्मा के अमरत्व के विषय में प्राय: एकमत हैं। केवल एक चार्वाक दर्शन ही परलोक और परलोकी को नहीं मानता। इसके अतिरिक्त, शेष सभी भारतीय दर्शन यह स्वीकार करते हैं कि अमुक मार्ग का अवलम्बन करने से आत्मा जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा पाकर शाश्वत स्थिति को प्राप्त करता है। अवश्य ही वह मार्ग धर्म-रूप मार्ग है। चूँकि धर्म-

रूप मार्ग के अनुसरण, अर्थात् धर्म के आचरण से अमरत्व प्राप्त होता है, इसीलिए पं. आशाधर ने धर्म को अमृत कहा है। इस सन्दर्भ में उनका (अनगार धर्मामृत का) यह श्लोक द्रष्टव्य है -

अथ धर्मामृतं पद्यद्विसहस्त्रया दिशाम्यहम्।
निर्दुःखं सुखमिच्छन्तो भव्याः शृणुतधीधनाः॥ 1.6॥

पं. आशाधर कहते हैं - 'अब मैं दो हजार पद्यों में 'धर्मामृत' ग्रन्थ का कथन करता हूँ। दुःख से रहित सुख के अभिलाषी, बुद्धि के धनी भव्य जीव उसे सुनें।'

इस पद्य में प्रयुक्त 'धर्मामृत' शब्द का विशेषार्थ बताते हुए पं. आशाधर अपनी टीका में कहते हैं - धर्म (शुभ परिणामों से आगामी पाप-बन्ध को रोकने और पूर्वार्जित कर्म की निर्जरा करने या फिर जीव या आत्मा के नरक आदि गतियों से निवृत्त होकर सुगति में जाने का माध्यम) अमृत के तुल्य होता है; क्योंकि जो धर्म का आचरण करते हैं, वे अजर-अमर पद को प्राप्त करते हैं। इस शास्त्र में उसी धर्म का कथन है, इसलिए इसका नाम 'धर्मामृत' दिया गया है। इस शास्त्रीय विवेचन से ग्रन्थ की संज्ञा भी सार्थक होती है।

पं. आशाधर ने धर्म को पुण्य का और अधर्म को पाप का जनक बताया है। उन्होंने सुख और दुःख से निवृत्ति के प्रयासों को दो पुरुषार्थ कहे हैं, जिनका कारण धर्म है (अन.ध.22)। उनका यह मन्तव्य तर्कपूर्ण है कि धर्म के आचरण से सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति होती है। किन्तुः एकमात्र सांसारिक सुख की प्राप्ति की भावना से किये गये धर्माचरण से सांसारिक सुख की प्राप्ति निश्चित नहीं है, किन्तु मुक्ति की भावना से किये गये धर्माचरण से सांसारिक सुख अवश्य ही प्राप्त होता है।

पं. आशाधर मानते हैं कि सांसारिक सुख धर्म का आनुषंगिक फल है, किन्तु मुख्यफल मोक्ष की प्राप्ति है। इस सन्दर्भ में उनका 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द में आबद्ध (अनगार धर्मामृत का) यह आलंकारिक पद्य द्रष्टव्य है -

धर्माद् दृक्फलमभ्युदेतिकरणैरूद्गीर्यमाणोऽनिशं,
यत्प्रीणाति मनोवहन् भवरसो यत्पुंस्यवस्थान्तरम्।
स्याजन्मज्वर संज्वरव्युपरमोपक्रम्य निस्सीम तत्,
तादृक्शर्म सुखाम्बुधिप्लवमयं सेवाफलंत्वस्य तत्॥ 25॥

अर्थात्, जैसे राजा के निकट आनेवाले सेवक को दृष्टिफल और सेवाफल की प्राप्ति होती है, वैसे ही धर्म का सेवन करनेवाले को धर्म से ये दो फल प्राप्त होते हैं। इन्द्रियों द्वारा होनेवाला और दिन-रात रहनेवाला जो संसार का रस मन को प्रसन्न करता है वह दृष्टिफल है तथा संसार-रूप महाज्वर के विनाश से उत्पन्न होनेवाला असीम अनिर्वचनीय

सुखामृत के समुद्र में अवगाहन-रूप जो विशेष अवस्था है, अर्थात् सांसारिक अवस्था के विपरीत आत्मिक अवस्था है उसकी प्राप्ति सेवाफल है।

इसे थोड़ा और स्पष्ट करते हुए पं. आशाधर ने टीका में कहा है - राजा आदि बड़े जनों के पास आनेवाले सेवक को दो फलों की प्राप्ति होती है - प्रथम दर्शन में राजा उसे ग्राम, सोना, वस्त्र आदि देता है। यह दृष्टिफल अथवा राजदर्शन का फल है और सेवा करने पर राजा उसे सामन्त आदि का पद प्रदान करता है। यह सेवाफल है। इसीप्रकार धर्म के सेवकों को भी दो फलों की प्राप्ति होती है - उसे मनःप्रसादक सुख प्राप्त होता है जो उसका दृष्टिफल है, यानी धर्मविषयक श्रद्धा से प्राप्त पुण्यफल। सांसारिक सुख उसी का फल है तथा धर्म-सेवन से निज शुद्धात्मतत्त्व की भावना के फलस्वरूप जो शुद्धात्म-स्वरूप की प्राप्ति होती है वह अनन्त सुख का समुद्र-रूप सेवाफल है। इसीप्रकार, धर्म का मुख्यफल मोक्ष की प्राप्ति है और आनुषंगिक फल है सांसारिक सुख की प्राप्ति।

इस तरह 'अनगार धर्मामृत' के प्रथम भाग के प्रथम अध्याय में धर्म की बहुकोणीय विवेचना की गई है। द्वितीय अध्याय में मोक्ष का विशद निरूपण करने के साथ ही विभिन्न प्रकार के मदों के त्याग का उपदेश किया गया है और फिर उपगूहन, स्थितिकरण, विनय आदि गुणों को अपनाने के साथ ही हिंसा-अहिंसा का माहात्म्य समझाया गया है। आगे के शेष सात अध्यायों में त्रस जीव, पंच महाव्रत, कामदोष, शील, संयम, तप, गुप्ति, चारित्र, मुनि-आहार, अन्तराय, द्रव्यशुद्धि, भावशुद्धि, मायाचार, परीषह, उपवास, विनयतप, वैयावृत्त्य, पंच नमस्कार, षडावश्यक, सामायिक वन्दना, जिनमुद्रा, कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, अष्टमी और पक्षान्त की क्रियाविधि, सिद्ध प्रतिमा आदि की वन्दना-विधि, चैत्यदर्शन और क्रिया-प्रयोग-विधि, प्रतिक्रमण-प्रयोगविधि, प्रतिमास्थित मुनि की क्रियाविधि आदि तमाम जैनाचार के धार्मिक तत्त्वों का आकलन किया गया है। अन्तिम नवम अध्याय में तो पं. आशाधर ने एक महान् कर्मकाण्डी के रूप में अपने पाण्डित्य का परिचय दिया है।

पं. आशाधर के कालजयी धर्मग्रन्थ 'धर्मामृत' के दूसरे भाग 'सागारधर्मामृत' के प्रधान सम्पादकीय में सागार या गृहस्थ के धर्म की विशद चर्चा उसकी निवृत्तिमूलकता के सन्दर्भ में की गई है, जिसका आशय है कि निवृत्तिप्रधान साधुमार्ग को अपनाये बिना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और उसे साग्रह प्राप्त करना प्रत्येक जीव का मुख्य कर्त्तव्य है। अतएव, प्रत्येक व्यक्ति को निवृत्तिमार्ग का पथिक बनाने के लिए ही जैनधर्म में गृहस्थ-धर्म या सागार-धर्म का उपदेश किया गया है। सागार-धर्म का उपदेश करते हुए पं. आशाधर ने (सागारधर्मामृत में) कहा है -

अनाद्यविद्यादोषोत्थचतुःसंज्ञाज्वरातुराः।
शश्वत्स्वज्ञानविमुखाः सागारा विषयोन्मुखाः॥ 1.2॥

अर्थात्, संसार के विषय-भोगों को त्याज्य जानते हुए भी जो मोहवश उन्हें छोड़ने में असमर्थ है, वह गृहस्थ-धर्म के पालन का अधिकारी होता है।

अतः गृहस्थाश्रम प्रवृत्ति-रूप होते हुए भी निवृत्ति का शिक्षणालय है। त्याग की भूमिका अपनाये बिना गृहस्थाश्रम चल नहीं सकता। माता-पिता के त्याग के बिना सन्ततियों का उत्कर्ष-अभ्युदय कदापि सम्भव नहीं है। माता-पिता स्वयं कष्ट में रहकर अपनी सन्तान को सुखी देखने का प्रयत्न करते हैं।

'सागार धर्मामृत' के प्रथम अध्याय का प्रारम्भ गृहस्थ (सागार) के लक्षण से प्रारम्भ होता है। लक्षण इस प्रकार है -

नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतसः॥ 1.4॥

अर्थात्, जिनका चित्त मिथ्यात्व से ग्रस्त है, वे मनुष्य होते हुए भी पशु के समान आचरण करते हैं और जिनकी चित्तवृत्ति या चेतना सम्यग्दर्शन से समलंकृत हो गई है, वे सम्यग्दृष्टि से सम्पन्न होने के कारण पशु होते हुए भी मनुष्य के समान आचरण करते हैं।

इस भाग में कुल आठ अध्याय हैं। इस प्रकार पं. आशाधर का 'धर्मामृत' ग्रन्थ कुल सत्रह अध्यायों में परिवेषित हुआ है। उनके द्वारा लक्षित 'सागार' शब्द में सभी गृहस्थ श्रावकों का अन्तर्भाव हो गया है। मगर, गृहस्थों में सम्यग्दृष्टि और देशसंयमी भी आते हैं। अतः पं. आशाधरजी ने 'सागार' के दूसरे लक्षण में 'प्रायः' पद दिया है -

अनाद्यविद्या निस्यूतां ग्रन्थसंज्ञामपासितुम।
अपारयन्तः सागाराः प्रायो विषयमूर्च्छिताः॥ 1.3॥

अर्थात्, सागार या गृहस्थ, बीज और अंकुर की तरह अनादि और अविद्या के साथ अविनाभाव रूप में परम्परा से चली आनेवाली परिग्रह-संज्ञा का छोड़ने में असमर्थ और प्रायः विषयों में विमूर्च्छित होते हैं।

'प्रायः' का अर्थ होता है - 'बहुशः' या 'बहुत करके'। चरित्रावरण कर्म के उदय से सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न जीवों में भी इस प्रकार का विकल्प, यानी कामिनी आदि विषयों में 'ये मेरे भोग्य हैं', 'मैं इनका स्वामी हूँ' इस प्रकार का ममकार और अहंकार पाया जाता है। किन्तु जन्मान्तर में किये गये 'रत्नत्रय' के अभ्यास के प्रभाव से इस जन्म में साम्राज्य

का उपभोग करते हुए भी, तत्त्वज्ञान और देश-संयम के कारण, निर्लिप्तवत् अथवा न भोगते हुए के समान प्रतीत होते हैं, अतएव पं. आशाधर ने 'प्राय:' शब्द ('प्रायो विषय-मूर्च्छिता:') का प्रयोग किया है।

'सागार धर्मामृत' के कुल आठ अध्यायों में जैनाचार के विभिन्न आयामों, जैसे - आठ मूलगुण, मद्य-मांस आदि के दोष, गृहस्थ-धर्म के पालन की अनुज्ञा, नैष्ठिक श्रावक के स्वरूप और कृत्य, व्रतिक प्रतिमा का स्वरूप, गुणव्रत, सामायिक-स्वरूप और उसकी *विधि, श्रावक की दिनचर्या, सचित्त-अचित्त का विचार, साधक श्रावक-स्वरूप,* समाधिमरण की विधि आदि के अतिरिक्त अनेक कर्मकाण्ड-विधियों का विशद वर्णन पं. आशाधर ने किया है। कर्मकाण्ड के मूल्य-महत्व की दृष्टि से जिनवाणी का पूजा-विधान, गुरु उपासना की विधि, दान देने का विधान तथा फल, जिनपूजा की सम्यक्विधि तथा उसका फल, अष्टाह्निका, इन्द्रध्वज एवं महापूजा का स्वरूप, विवाह-विधि, अहिंसाव्रत को निर्मल रखने की विधि, प्रथमबार भिक्षा की विधि, स्वदार-सन्तोषाणुव्रत-स्वीकार की विधि, प्रोषध विधि, मध्याह्न में देवपूजा की विधि, समाधिमरण में आहार-त्याग की विधि आदि कर्मकाण्डीय विषयों की उपस्थापना विस्तार से की गई है। यहाँ दो-एक पूजा-विधियाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं।

जिनपूजा की सम्यक् विधि और उसका लोकोत्तर फल -

चैत्यादौ न्यस्य शुद्धे निरुपरमनिरौपम्य तत्तद्गुणौघ-
श्रद्धानात्सोऽयमर्हन्निति जिनमनघैस्तद्विधोपाधिसिद्धैः।
नीराद्यैश्चारुकाव्यस्फुरदनणुगुणग्रामरज्यन्मनोभि-
र्भव्योऽर्चन् दृग्विशुद्धिं प्रबलयतु यया कल्पते तत्पदाय॥ 2.31॥

स्रग्धरा छन्द में आबद्ध इस काव्यमयी जिनपूजा-विधि का वर्णन अवश्य ही अतिशय मनोज्ञ है। इसका सारभूत अर्थ है - निर्दोष जिन-प्रतिमा में और उसके अभाव में अक्षत आदि में जिनदेव की स्थापना करके दोषरहित तथा निष्पाप साधनों से तैयार किये गये जल-चन्दन आदि से मनोरम गद्य-पद्यात्मक काव्यों में वर्णित महान् गुणों में मन को अनुरक्त करते हुए पूजन करनेवाला भव्य, सम्यग्दर्शन की विशुद्धि को अधिक सबल बनाता है और दर्शन-विशुद्धि के द्वारा तीर्थंकर-पद को पाने में सफल होता है।

जिनवाणी की पूजा का विधान -

यत्प्रसादान्न जातु स्यात् पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।
तां पूजयेज्जगत्पूज्यां स्यात्कारोड्डमरां गिरः॥ 2.43॥

अर्थात्, जिसके प्रसाद से पूज्य अर्हन्त, सिद्ध, साधु और धर्म की पूजा में यथोक्त पूजा-विधि का कभी लंघन नहीं होता, उस जगत्पूज्य और 'स्यात्' पद के प्रयोग द्वारा

एकान्तवादियों द्वारा न जीती जा सकनेवाली अजेय जिनवाणी (श्रुतदेवता) को विधिवत पूजना चाहिए।

विवाह-विधि -

पं. आशाधर ने महापुराणोक्त विवाह-विधि को अपने 'सागार धर्मामृत' में अंगीकृत किया है। तदनुसार, धार्मिक विवाह-विधि में बताया गया है कि विवाह-योग्य सत्कुलोत्पन्न कन्या के साथ विवाह की क्रिया गुरु की आज्ञा से सम्पन्न की जाती है। सबसे पहले अच्छी तरह सिद्ध भगवान का पूजन करना चाहिए। फिर, तीनों यज्ञीय अग्रियों(आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिण) की पूजापूर्वक विवाह की विधि प्रारम्भ की जाती है। किसी पवित्र स्थान में बड़ी विभूति के साथ सिद्ध भगवान की प्रतिमा के सामने वर-वधू का विवाहोत्सव करना चाहिए। तीन अग्नियों की प्रदक्षिणापूर्वक वर-वधू को एक-दूसरे के समीप बैठना चाहिए। देव और अग्नि के साक्ष्यपूर्वक सात दिन तक ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना चाहिए। फिर किसी योग्य देश में भ्रमण कर तथा तीर्थभूमि में विहार करके लौटने के बाद वर-वधू का गृह-प्रवेश-विधान करना चाहिए। फिर शय्या पर शयन कर केवल सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा से ऋतुकाल में ही काम-सेवन करना चाहिए। (तत्रैव, पृ. 95-96)

कहना न होगा कि पं. आशाधर का वैदुष्य विस्मयकारी है। विषय-प्रतिपादन एवं तत्सम्बन्धी भाषा-भणिति पर भी उनका समान और असाधारण अधिकार परिलक्षित होता है। उनका धर्मामृत कर्मकाण्डोन्मुख धर्मशास्त्र अथवा धर्म शास्त्रोन्मुख कर्मकाण्ड का महान ग्रन्थ है। फिर भी इसका रचना-प्रकल्प सरस काव्योपम है। इस ग्रन्थ में उन्होंने केवल अनुष्टुप छन्द ही नहीं; वरन् पिंगलशास्त्र-वर्णित विविध छन्दों एवं अलंकार शास्त्र में उल्लिखित विभिन्न अलंकारों का भी प्रयोग प्रचुरता से किया है। वे संस्कृत के आकर-ग्रन्थों के साथ ही टीका-ग्रन्थों के निर्माताओं की परम्परा में पांक्तेय ही नहीं, अग्रणी भी हैं। भाषा उनकी वशंवदा रही, तभी तो उन्होंने इसे अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न भंगियों में नचाया है। वह संस्कृत-भाषा के अपरिमित शब्द-भाण्डार के अधिपति रहे, साथ ही शब्दों के कुशल प्रयोक्ता भी। उनकी प्रयोगभंगी को न समझ पानेवालों के लिए उनकी भाषा क्लिष्ट प्रतीत हो सकती है, किन्तु भाषाभिज्ञों के लिए तो वह मोद-तरंगिणी है। उस महावैयाकरण की भाषा के सन्दर्भ में यथा-प्रचलित सूक्ति 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' को परिवर्तित कर हम ऐसा कह सकते हैं - 'विद्यावतां धर्मामृते परीक्षा'।

- पी.एन. सिन्हा कॉलोनी
भिखना पहाड़ी, पटना-800 006

▲▲▲

सागारधर्मामृत में वर्णित प्रतिमा : प्रयोग और प्रयोजन

— डॉ. महेन्द्रसागर प्रचंडिया

■

प्राणधारियों में मनुष्य एक श्रेष्ठ प्राणी है। उसकी श्रेष्ठता का आधार है उसमें निहित दर्शन, ज्ञान और चारित्र विषयक अपूर्व शक्ति और सामर्थ्य। गृहस्थ और संन्यासी के भेद से मनुष्य-जीवन की दो प्रमुख अवस्थाएँ हैं। विवेकवान अणुव्रती गृहस्थ को वस्तुतः श्रावक कहा जाता है।[1] श्रावक को पाक्षिक, नैष्ठिक तथा साधक के रूप में तीन भेदों में विभक्त किया गया है।[2]

श्रावक के दर्शन, ज्ञान और चारित्र विषयक विकास-क्रम का नाम है प्रतिमा। प्रतिमा अर्थात् श्रेणी। प्रतिमा का अपरनाम निलय भी है।[3] प्रतिमा शब्द आज पारिभाषिक हो गया है। अधुनातन समय और समाज में हम लौकिक शिक्षात्मक विकास क्रम को जैसे 'कक्षा' नामक संज्ञा से अभिहित करते हैं, उसी प्रकार आत्मिक और आध्यात्मिक उदय और उत्थान की अवबोधक संज्ञा को 'प्रतिमा' कहा जाता है।

श्रावक के क्रमिक विकास के लिए एकादश प्रतिमाओं के अनुपालन को आवश्यक माना गया है।[4] एकादश प्रतिमाएँ निम्नवत हैं, यथा -

1. दर्शन प्रतिमा
2. व्रत प्रतिमा

3. सामायिक प्रतिमा
4. प्रोषधोपवास प्रतिमा
5. सचित्त विरत प्रतिमा
6. दिवाब्रह्मचर्य/रात्रिभुक्ति-त्याग प्रतिमा
7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा
8. आरम्भ-त्याग प्रतिमा
9. परिग्रह-त्याग प्रतिमा
10. अनुमति-त्याग प्रतिमा
11. उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा

इन एकादश प्रतिमाओं के अनुपालन के विषय में विशेष ध्यातव्य 'क्रम' शब्द के अभिप्राय की सार्थकता है। इससे मेरा अभिप्रेत यह है कि ये एकादश श्रेणियाँ श्रावक के क्रमिक विकास का मूलाधार हैं। श्रावक पूर्व-पूर्व की भूमिकाओं से उत्तरोत्तर भूमिकाओं में प्रवेश करता जाता है। इसका अर्थ यह है कि दूसरी प्रतिमा धारण करने से पूर्व प्रथम प्रतिमा की योग्यता होना उसके लिए परमावश्यक है। इन एकादश प्रतिमाओं को उत्तीर्ण करनेवाला श्रावक अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

यहाँ सागार धर्मामृत में इन एकादश प्रतिमाओं के प्रयोग और प्रयोजन पर संक्षेप में चर्चा करना हमारा मूलाभिप्रेत है।

1. दर्शन प्रतिमा

जो श्रावक सम्यग्दर्शन के साथ-साथ आठ मूलगुणों को धारण करता है वह दर्शनिक कहा जाता है।[5] इस प्रतिमा को धारण करनेवाला श्रावक सप्त व्यसनों[6] का त्यागी तथा अष्ट मूलगुणों का धारक कहा जाता है।[7] वह निंद्य व्यवसाय से पृथक् रहकर न्याय और नीतिपूर्वक आजीविका का उपार्जन करता है।[8]

2. व्रत प्रतिमा

जो श्रावक अतिचार-रहित पाँच अणुव्रतों — अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह; तीन गुणव्रतों — दिग्व्रत, अनर्थदण्डत्याग व्रत तथा भोगोपभोग परिमाण व्रत; चार शिक्षाव्रतों - देशव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास व्रत तथा अतिथिसंविभाग व्रत का पालन करता है, वह वस्तुतः व्रत-प्रतिमाधारी कहलाता है।[9]

3. सामायिक प्रतिमा

पूर्वोक्त दोनों प्रतिमाओं का अनुपालक श्रावक तीनों संध्याओं में विधिपूर्वक सामायिक[10] कर तृतीय प्रतिमाधारी कहलाता है।[11]

4. प्रोषधोपवास प्रतिमा

पूर्वगृहीत सभी व्रतों के साथ पर्व के दिनों अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशी को विधिपूर्वक एकबार आहार करना वस्तुत: प्रोषधोपवास[12] प्रतिमा कहलाती है।[13]

5. सचित्तविरत प्रतिमा

जब श्रावक सचित्त भोजन का त्याग कर देता है, तब उसे पाँचवीं सचित्त विरत प्रतिमाधारी कहा जाता है।[14] सचित्त वस्तुत: एक पारिभाषिक शब्द है। वनस्पति भी जीव हैं। जब तक सब्जी कच्ची अवस्था में रहती है वह सजीव कहलाती है। अग्नि से संस्कारित वह वस्तुत: अचित्त हो जाती है। इस दृष्टि से पानी भी उबाल कर पिया जाता है। इससे प्राणी और इन्द्रिय-संयम का अनुपालन किया जाता है।[15]

6. दिवा ब्रह्मचर्य/रात्रिभुक्ति-त्याग प्रतिमा

पाँचों प्रतिमाओं का अनुपालक श्रावक जब दिवा-मैथुन का परित्याग कर देता है तब वह दिवा-मैथुन-त्यागी/रात्रिभुक्ति-त्याग प्रतिमाधारी कहलाता है।[16] इस प्रतिमा का धारी श्रावक दिन में समस्त काम-प्रवृत्तियों का त्याग कर देता है। इस प्रतिमा का धारी श्रावक रात्रिभोजन का मन, वचन, काय से त्यागी होता है। यही कारण है कि इसे रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा भी कहते हैं।[17]

7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा

पूर्व की सभी षट्प्रतिमाओं के धारी श्रावक जब मन, वचन, काय से स्त्री मात्र के संसर्ग का त्याग कर देता है तब उसे ब्रह्मचर्य प्रतिमा कहते हैं। उसकी दैनिकचर्या में घर-गृहस्थी के कार्यों के प्रति प्राय: उदासीनता मुखर हो उठती है।[18]

8. आरम्भ-त्याग प्रतिमा

पूर्वोक्त सप्तप्रतिमाओं का धारक श्रावक जब आजीविका के साधनभूत सभी प्रकार के व्यापार, खेती-बाड़ी, नौकरी आदि का त्याग कर देता है, तब वह आरम्भ-त्याग प्रतिमा का धारी कहलाता है।[19]

9. परिग्रह-त्याग प्रतिमा

उपर्युक्त आठों प्रतिमाओं का धारी साधक-श्रावक जब सभी प्रकार के परिग्रहों - जमीन-जायदाद आदि से अपना स्वत्व और स्वामित्व त्याग देता है तब वह साधक श्रावक वस्तुत: परिग्रह-त्याग प्रतिमाधारी कहलाता है।[20]

10. अनुमति-त्याग प्रतिमा

पूर्वोक्त सभी नौ प्रतिमाओं का अनुपालक श्रावक जब घर और बाहर के किसी भी लौकिक कार्य-व्यापार में किसी भी प्रकार की अनुमोदना, परामर्श देना अथवा स्वीकारने का सर्वथा त्याग कर देता है तब वह अनुमति-त्याग प्रतिमा का धारक होता है। ऐसे साधक

का अधिकांश समय स्वाध्याय, सामायिक तथा आत्मचिन्तन आदि में ही व्यतीत होता है। वह अपने नैत्यिक भोजन भी अपने घर अथवा बाहर किसी साधर्मी बन्धु के यहाँ से निमंत्रण मिलने पर ही स्वीकारता है। इस विकास यात्रा पर पहुँचा हुआ साधक प्रायः अपने घर में न रहकर मन्दिरजी अथवा चैत्यालय आदि एकान्त, शान्त स्थान में ही रहता है।[21]

11. उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा

उपर्युक्त दश प्रतिमाओं का साधक/श्रावक जब अपने निमित्त तैयार किये हुए भोजन का सर्वथा त्याग कर देता है तब वह उसे ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उद्दिष्ट त्यागी कहा जाता है।[22]

ग्यारहवीं प्रतिमा का धारी श्रावक/साधक सर्वथा गृहत्यागी हो जाता है। वह मुनिजनों का सान्निध्य प्राप्त करता है। मुनियों के आहार के लिए निकलने के बाद ही चर्या के लिए निकलता है। भक्ति तथा विधिपूर्वक आहार दिये जाने पर दिन में एक बार भोजन ग्रहण करता है, शेष समय को मुनिवृन्दों की सुश्रूषा तथा वैयावृत्ति में व्यतीत करता है। ऐसा सुधी साधक नित्य और नियमित स्वाध्याय करता है।

'उद्दिष्ट त्यागप्रतिमा' का अनुपालक श्रावक/साधक को चर्या-भेद से दो अनुभागों में विभक्त किया गया है, यथा -

1. क्षुल्लक
2. ऐलक

क्षुल्लक किसी एक पात्र में भोजन ग्रहण करता है जबकि ऐलक करपात्री होता है। ऐलक 'केशलोंच' करता है जबकि क्षुल्लक के लिए केशलोंच करना आवश्यक नहीं है। ऐलक मात्र एक लँगोटी ही धारण करता है जबकि क्षुल्लक एक लँगोटी के साथ एक ऐसा खण्ड वस्त्र जिससे शिर ढकने पर पैर न ढके और पैर ढक जाने पर शिर न ढकने पाये, भी रखता है।

इन प्रतिमाओं के अनुपालन के लिए पुरुष की भाँति नारी के लिए भी द्वार खुले हुए हैं। पुरुष कहलाता है श्रावक और नारी कहलाती है - श्राविका। श्राविका ग्यारह प्रतिमाएँ धारणकर अपने पास मात्र एक श्वेत साड़ी और एक श्वेत खण्डवस्त्र रखती है। श्राविका तब क्षुल्लिका कहलाती है और वह एक पात्र में भोजन ग्रहण करती है।

ये एकादश प्रतिमाएँ एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी इस प्रकार अनुक्रम से पालन की जाती हैं।[23] अनुक्रम से पालने का प्रयोग और प्रयोजन सार्थक है। इस भव-भ्रमणकारी जीव के अनादि काल से विषय-वासनाओं का जो अभ्यास हो रहा है उससे उत्पन्न असंयम का एक साथ छूटना प्रायः सम्भव नहीं हो पाता अतः उसे छोड़ने के लिए अनुक्रम पद्धति का प्रयोग सर्वथा सार्थक और प्रासंगिक है।

1. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 4, पृष्ठ 46, क्षु. जिनेन्द्रवर्णी
2. सागार धर्मामृत, पं. आशाधर, हिन्दी अनुवादक—पण्डित लालाराम जैन, इन्दौर, अधिकार सं. 1, श्लोक सं. 20।
3. शास्त्रसार समुच्चय, श्रावकाचार, सूत्र 10, आचार्य माघनन्दि योगीन्द।
4. (अ) बारस अणुवेक्खा, गाथांक 136।

   (ब) श्रावकाचार, गाथांक 301, आचार्य वसुनन्दि।

   (स) सागार धर्मामृत, श्लोक 17, पण्डित आशाधर, पृष्ठ 43-44।
5. सागार धर्मामृत, आशाधर, 1.17; 3.9।
6. 'सप्त व्यसनानि', शास्त्रसार समुच्चय, आचार्य माघनन्दि योगीन्द्र तथा जैन तत्त्व विद्या, चरणानुयोग, पृष्ठ 143 अनुवादक मुनि प्रमाण सागर।
7. अष्टौमूलगुणा:, शास्त्रसार समुच्चय, आचार्य माघनन्दि योगीन्द्र, जैन तत्त्व विद्या, चरणानुयोग, पृष्ठ 141।
8. जैन तत्त्व विद्या, चरणानुयोग, मुनि प्रमाण सागर, पृष्ठ 141।
9. सागार धर्मामृत, 1.17, पण्डित आशाधर।
10. 'समय' सामायिक का पूर्व किन्तु अपूर्व रूप है। आत्मा के गुणों का चिन्तवन कर समता का अभ्यास करना वस्तुत: सामायिक है। लेखक द्वारा निरूपण।
11. सागार धर्मामृत, 1.17।
12. (अ) जैन तत्व विद्या, चरणानुयोग, पृष्ठ 140।

    (ब) 'प्रोषध' शब्द का अर्थ है एकाशन अर्थात् एकबार भोजन। दोनों पक्षों की अष्टमी और चतुर्दशी के दिनों में एकाशनपूर्वक उपवास करना प्रोषधोपवास व्रत कहलाता है। 'जैन तत्त्व विद्या, चरणानुयोग, पृष्ठ 156।
13. (अ) सागार धर्मामृत, 1.7; 7.5।

    (ब) जैन तत्त्व विद्या, चरणानुयोग, पृष्ठ 140।
14. (अ) सागार धर्मामृत, 1.17; 7.8, 9, 10, 11।
15. जैन तत्त्व विद्या, चरणानुयोग, पृष्ठ 140।
16. सागार धर्मामृत, 1.17; 7.12, 13, 14, 15।
17. जैन तत्त्व विद्या, चरणानुयोग, पृष्ठ 140।
18. (अ) सागार धर्मामृत, 2.17, 7.16।

    (ब) जैन तत्त्व विद्या, चरणानुयोग, पृष्ठ 140, 141।
19. (अ) सागार धर्मामृत, 7.21, 22।

(ब) जैन तत्त्व विद्या, चरणानुयोग, पृष्ठ 141।

20. (अ) सागार धर्मामृत, 7.23-29।

(ब) जैन तत्त्व विद्या, चरणानुयोग, पृष्ठ 141।

21. (अ) सागार धर्मामृत, 7.30-36।

(ब) जैन तत्त्व विद्या, चरणानुयोग, पृष्ठ 141।

22. (अ) सागार धर्मामृत, 7.37-49।

(ब) जैन तत्त्व विद्या, चरणानुयोग, पृष्ठ 141।

23. श्रावकपदानि देवैरकादश देशितानि खलुयेषु।

स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठते क्रमविवृद्धाः॥ 136॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार

- मंगल कलश
394, सर्वोदय नगर, आगरा रोड
अलीगढ़-202001

▲▲▲

पं. आशाधरजी द्वारा प्रतिपादित सद्गृहस्थ का लक्षण और श्रावक के आठ मूलगुण

— डॉ. सूरजमुखी जैन

पं. आशाधरजी का व्यक्तित्व बहुमुखी था। ये जैनाचार, अध्यात्म, दर्शन, काव्य, साहित्य, कोष, राजनीति, कामशास्त्र, आयुर्वेद आदि अनेक विषयों के प्रकाण्ड पंडित थे। ये मेधावी कवि, व्याख्याता और मौलिक चिन्तक थे। दिगम्बर परम्परा में इनका जैसा बहुश्रुत गृहस्थ विद्वान और ग्रन्थकार अन्य कोई नहीं दिखाई देता। इन्होंने विपुल परिमाण में साहित्य-सृजन किया है। सागारधर्मामृत में गृहस्थ धर्म का और अनागार धर्मामृत में मुनिधर्म का विस्तृत विवेचन किया है। यहाँ सागारधर्मामृत में इनके द्वारा प्रतिपादित सद्गृहस्थ का लक्षण और श्रावक के आठ मूलगुण विचारणीय हैं।

इन्होंने सद्गृहस्थ का लक्षण बताते हुए कहा है -

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून सद्गीस्त्रिवर्गभज-
न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञोवंशी
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत्॥ 1.11॥

1. **न्यायोपात्तधन** की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो व्यक्ति न्याय और सदाचारपूर्वक अपनी आजीविका के लिए धन का उपार्जन करता है, स्वामिद्रोह, मित्रद्रोह,

विश्वासघात, चोरी आदि निन्द्यवर्गों से धन का उपार्जन नहीं करता है वह 'न्यायोपात्तधन' है।

2. यजन् गुणगुरून् से तात्पर्य है जो व्यक्ति गुणों में महान् व्यक्तियों की पूजा करता है, उनका सम्मान करता है। गुणों में महान् व्यक्ति वही है जो सदाचारी है, सज्जन है, उदार है, दयालु है, अपना तथा पर का उपकार करनेवाला है, ऐसे व्यक्तियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना सदगृहस्थ का कर्त्तव्य है। माता-पिता तथा आचार्य भी गुरु हैं, उनकी सेवा करना, उनको प्रणाम करना, उनका आदर-सत्कार करना सद्गृहस्थ का लक्षण है।

3. सद्गी से तात्पर्य है जिसके वचन दूसरों की निन्दा अथवा दूसरों के हृदय को दु:ख देनेवाले नहीं हैं, जो कटुवचन, असत्य वचन तथा गर्हित वचन नहीं बोलता है, जो सदैव हितमित-प्रिय वचन बोलनेवाला है।

4. अन्योन्यानुगुणं त्रिवर्गं भजन् - जो धर्म-अर्थ और काम तीनों का सेवन करते हुए उनमें विरोध नहीं आने देता, जो सांसारिक दृष्टि से अर्थ और काम का सेवन करते हुए भी धर्मविरुद्ध आचरण नहीं करता है। पं. आशाधरजी ने अन्यत्र भी कहा है -

धर्मं यशः शर्म च सेवमानाः केऽप्येकशोजन्मविदुः कृतार्थम्।
अन्ये द्विशोः विद्म वयं त्वमोघान्यहानि यान्ति त्रयसेवयैव॥ 1.4॥

5. तदर्हगृहिणीस्थानालयो - जिसकी पत्नी कुलीन तथा सुसंस्कृत है और उसके धर्म, अर्थ, काम के सेवन में सहयोग देनेवाली है। जो ऐसे स्थान तथा घर में रहता है, जहाँ रहकर अपने धर्म, अर्थ और काम का सेवन सरलतापूर्वक कर सके, वह 'तदर्हगृहिणीस्थानालय:' है।

6. ह्रीमय - जो लज्जागुण से युक्त है अर्थात् जो परिवार और समाज में रहकर ऐसा कोई निन्द्यवार्य नहीं करता, जिससे उसे लज्जित होना पड़े।

7. युक्ताहारविहार - जिसका आचरण तथा भोजन दोनों समीचीन हैं। जो सदैव सादा और सुपाच्य भोजन करता है तथा ऐसा कोई कार्य नहीं करता जो अपने अथवा दूसरों के लिए घातक है।

8. आर्यसमिति - जो सदैव सज्जनों की संगति में रहता है, जो हिंसक-चोर-जुआरी-शराबी-वेश्यागमी आदि दुष्ट पुरुषों की संगति से दूर रहता है।

9. प्राज्ञ - जो हिताहित का विवेक रखता है, विचारपूर्वक कार्य करता है।

10. कृतज्ञ - जो दूसरों द्वारा किये हुए उपकार को मानता है, स्वीकार करता है।

11. वशी - जो पाँचों इन्द्रियों को नियन्त्रित रखता है, जो इष्ट विषयों में राग तथा अनिष्ट विषयों में अत्यधिक द्वेष नहीं रखता।

12. धर्मविधिश्रृण्वन् - जो आत्मकल्याण के लिए प्रतिदिन धर्मोपदेश श्रवण करता है।

13. दयालु - धर्म का मूल दया है, यह जानकर जिसकी सदैव दु:खियों के दु:ख को दूर करने की इच्छा रहती है, परदु:ख निवारण जिसका स्वभाव है।

14. अघभी - जो हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीसेवन, मद्यपान आदि पापों से सदैव डरता है, उन पाप-कार्यों में कभी प्रवृत्त नहीं होता।

उक्त गुणों से युक्त व्यक्ति ही सद्गृहस्थ कहलाने का अधिकारी है। आगम के अनुसार श्रद्धा और विवेकपूर्वक गृहस्थ धर्म का सम्यक् परिपालन करनेवाला व्यक्ति ही श्रावक कहलाता है। पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक श्रावक के तीन भेद बताये हैं -

पाक्षिकादिभिका त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठः नैष्ठिकःसाधकःस्वयुक्॥ 1.20॥

श्रावक धर्म को स्वीकार कर देशसंयम की ओर उन्मुख गृहस्थ पाक्षिक श्रावक, निष्ठापूर्वक अतिचाररहित देशसंयम का पालन करनेवाला गृहस्थ नैष्ठिक श्रावक तथा समाधिमरण की साधना करनेवाला गृहस्थ साधक कहलाता है। जैन आगम में अहिंसा को ही परम धर्म, सब धर्मों का मूल कहा गया है। पूर्ण अहिंसा का पालन तो गृहत्यागी मुनि ही कर सकते हैं, किन्तु गृहस्थ को भी अपनी शक्ति के अनुसार स्थूलहिंसा से बचने का प्रयत्न करना चाहिये। स्थूलहिंसा से बचने के लिए पक्षिक श्रावक को मद्य, मांस, मधु तथा पाँच उदम्बर फलों का त्याग कर आठ मूल गुणों का पालन करना आवश्यक है। पं. आशाधरजी कहते हैं -

तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम्।
मद्यमांसमधून्युज्झेत्पञ्चक्षीरफलानि च॥ 2.2॥

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने भी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में पाक्षिक श्रावक के लिये मद्य-मांस-मधु और पाँच उदम्बर फलों का त्याग आवश्यक बताया है। वे कहते हैं -

मद्यं मांसं क्षोद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव॥ 61॥

स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में मद्य, मांस और मधु त्याग के साथ अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणुव्रत इन पाँच अणुव्रतों को आठ मूलगुण माना है। वे कहते हैं -

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥ 66॥

किसी-किसी ने मधुत्याग के स्थान पर जुआ के त्याग का आदेश दिया है। पं. आशाधरजी पर-भव का उल्लेख करते हुए कहते हैं -

अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान स्थूलवधादि वा।
फलस्थाने स्मरेद् द्यूतं मधुस्थाने इहैव वा॥ 2.3॥

पं. आशाधरजी ने अन्यत्र आगम के अनुसार मद्य-त्याग, मांस-त्याग, मधु-त्याग, रात्रि भोजन का त्याग, पाँच उदम्बर फलों का त्याग, अर्हन्त भगवान को नमस्कार करना, जीवों पर दया करना तथा जल छानकर पीना इस प्रकार आठ मूलगुणों का भी उल्लेख किया है -

मद्यपलमधुनि शासन पञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणा॥ 2.18॥

सर्वप्रथम मद्यपान का दोष बताते हुए पं. आशाधरजी कहते हैं -

यदेकबिन्दोः प्रचरन्ति जीवाश्चेत्तत् त्रिलोकीमपि पूरयन्ति।
यद्विक्लवाश्चेमममुं च लोकं यस्यन्ति तत्कश्यमवश्यमस्येत्॥ 2.4॥

पीते यत्र रसाङ्गजीवनिवहाः क्षिप्रं म्रियन्तेऽखिलाः।
कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतयः सावद्यमुद्यन्ति च॥ 2.5॥

मदिरा की एक बूँद में इतने जीव होते हैं कि वे तीनों लोक में फैल जाते हैं, मदिरा पान करनेवाले की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह इस लोक में तो दुःखी होता ही है, जीवहिंसा के दोष से परलोक में भी दुःख का भाजन होता है। मदिरापान करने से उस मदिरा में प्रतिपल उत्पन्न होनेवाले जीवों का घात होता है। इसके अतिरिक्त काम, क्रोधभरा भ्रम आदि विकार उत्पन्न होते हैं, जिनसे अपने भावप्राणों का भी घात होता है। इस प्रकार मदिरापान करनेवाले से द्रव्यहिंसा और भावहिंसा दोनों की होती हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने भी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में मदिरापान को हिंसा का कारण बताते हुए कहा है -

रसजामां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम्॥ 63॥

मदिरा बहुत से जीवों को उत्पन्न करनेवाली है। अतः मदिरापान करनेवालों से उन जीवों की हिंसा अवश्य होती है।

मांस-भक्षण करनेवाला व्यक्ति भी हिंसा से नहीं बच सकता। क्योंकि बिना प्राणिवध के मांस नहीं मिल सकता। अत: प्राणिवध के कारण मांसभक्षी व्यक्ति द्रव्यहिंसा तथा भावहिंसा दोनों का दोषी है। अत: मांस भक्षण करनेवाला चिरकाल तक संसार-परिभ्रमण करता रहता है। पं. आशाधरजी कहते हैं -

प्राणिहिंसार्पितं दर्पमर्पयत्तरसं तराम्।
रसयित्वां नृशंसः स्वं विवर्तयति संसृतो॥ 2.8॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि भी कहते हैं - बिना प्राणि का घात हुए मांस की उत्पत्ति नहीं होती। अत: मांस-भक्षण करने से हिंसा होती ही है -

न बिना प्राणिविधातान्मां सस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा॥ 65॥

स्वयं मरे हुए जीव के मांस में भी सतत निगोदिया जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। अत: स्वयं मरे हुए जीव के मांस को भी कच्चा अथवा पकाकर खाने तथा स्पर्श करनेवाला व्यक्ति भी हिंसक है -

हिंसा स्वयं मृतस्यापि स्यादशनन्वा स्पृशन् पलम्।
पक्वा पक्वा हि तत्पेश्यो निगोतौघसुतः सदा॥ 2.7॥

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने भी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में स्वयं मरे हुए जीवों में तथा कच्चे पके अथवा पकते हुए मांस में प्रतिक्षण निगोदिया जीवों की उत्पत्ति तथा मांस खानेवाले से उनकी हिंसा का उल्लेख किया है -

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिसवृषभादेः।
तत्तापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्॥ 6॥

आमास्वपि पक्वा स्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम्॥ 67॥

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वापिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम्॥ 68॥

मांस खानेवाला ही नहीं अपितु मांस खाने की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति भी कुमति का पात्र होता है। अत: पाक्षिक श्रावक को जीवनपर्यन्त के लिए मांस का त्याग अवश्य करना चाहिए।

मद्य और मांस के समान मधु भी बहुत-सी मधुमक्खियों को मारकर प्राप्त होता है। मधु मधुमक्खियों का उगाल होता है, जिसमें हर समय जीव उत्पन्न होते रहते हैं। ऐसे

अपवित्र मधु की एक बूँद को खानेवाला व्यक्ति सात गाँवों को जलाने के बराबर पाप का भागी होता है। पं. आशाधर कहते हैं -

मधुकृद्व्रातघातोत्थं मध्वशुच्यपि विन्दुशः
खादन् वध्नात्यघं सप्तग्रामदाहाहंसोऽधिकम्॥ 2.11॥

आचार्य अमृतचन्दसूरि ने भी इसी प्रकार मधु के दोष बताये हैं।[1]

मधु के समान ही मक्खन भी त्याज्य है। क्योंकि मक्खन में भी दो मुहूर्त के बाद सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। जो व्यक्ति दो मुहूर्त के बाद मक्खन का सेवन करता है वह भी हिंसा से नहीं बच सकता।

मधुवन्नवनीतं च मुञ्चेत्तत्रापि भूरिशः।
द्विमुहूर्त्तात्परे शश्वत्संसजन्त्यंगिराशयः॥ 2.12॥

पाँच उदम्बर फलों के खाने में भी द्रव्यहिंसा और भावहिंसा दोनों प्रकार की हिंसा होती है। इन पाँच उदम्बर फलों में वे हरे हों अथवा सूखे हुए, दोनों में ही त्रसजीवों की उत्पत्ति होती रहती है। अतः उक्त देनों फलों का सेवन करनेवाला द्रव्यहिंसा का ही दोषी नहीं होता अपितु रागभाव की अधिकता के कारण भावहिंसा का भी दोषी होता है -

पिप्पलोदुम्बर-प्लक्ष-वटफल्गु-फलान्यदन्।
हन्त्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रामयोगतः॥ 2.13॥

तीन मकार तथा पाँच उदम्बर फलों के समान ही रात्रिभोजन तथा अनछने जल को पीने में भी प्राणिवध तथा राग की अधिकता के कारण द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की हिंसा होती है। अतः रात्रिभोजन तथा अनछने जल का भी पाक्षिक श्रावक को त्याग कर देना चाहिए -

रागजीवबधापायभूयस्त्वात्तद्वदुत्सृजेत्।
रात्रिभक्तं तथा युञ्ज्यान्न पानीयमगालितम्॥ 2.14॥

आचार्य अमृतचन्द्रचूरि ने भी सूर्यास्त के बाद भोजन करनेवालों को जीवहिंसा का दोषी बताया है। वे कहते हैं -

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत्कथंहिंसाम्।
अपिबोधितप्रदीपो भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम्॥[2]

जिनागम का मूल है जिओ और जीने दो। अतः सभी प्राणियों पर दया भाव रखना चाहिये।

महाकवि तुलसीदास कहते हैं -

दयाधर्म को मूल है पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छांडिये जब तक घट में प्राण॥

उक्त आठ मूलगुणों को जीवनपर्यन्त धारण करनेवाला व्यक्ति ही जिनधर्म के श्रवण का अधिकारी है। सत्पात्र को दी हुई शिक्षा ही फलीभूत होती है। पं. आशाधरजी कहते हैं -

यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधीः।
जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः स्यात् कृतोपनय द्विजः॥ 2.19॥

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि के अनुसार भी आठ मूलगुण को धारण करनेवाला शुद्ध बुद्धिवाला व्यक्ति ही जिनधर्म का उपदेश सुनने योग्य है -

अष्टावनिष्टदुस्तर दुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः॥ 74॥

अतः श्रावक के लिए उक्त आठ मूलगुणों को धारण करना अनिवार्य है।

---

1. आचार्य अमृतचन्द्रसूरि, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 69-70
2. वही, 133।
3. वही, 74।

- अलका
35, इमामबाड़ा
मुजफ्फरनगर

▲▲▲

प्रमादचर्या

प्रमादचर्यां विफलं क्ष्मानिलाग्न्यम्बुभूरूहाम्।
खातव्याघातविध्यापसेकच्छेदादि नाचरेत्॥ 5.10॥ सा.ध.

- बिना प्रयोजन भूमि खोदना, वायु को रोकना, अग्नि को बुझाना, पानी सींचना, वनस्पति का छेदन-भेदन करना आदि प्रमादचर्या है, ये नहीं करना चाहिए।

अर्थात् बिना प्रयोजन के आग पर पानी डालकर उसे नहीं बुझाना चाहिए। व्यर्थ पानी नहीं बहाना चाहिए। पेड़ से फल-फूल-पत्ते आदि नहीं तोड़ना चाहिए।

तद्वच्च न सरेद्व्यर्थं न परं सारयेन्नहि।
जीवघ्नजीवान् स्वीकुर्यान्मार्जारशुनकादिकान्॥ 5.11॥ सा.ध.

- बिना प्रयोजन पृथ्वी खोदने की तरह बिना प्रयोजन हाथ-पैर आदि का हलन-चलन न स्वयं करें न दूसरे से करावें। प्राणियों का घात करनेवाले कुत्ता-बिल्ली आदि जन्तुओं को नहीं पालें।

अनु. - **पं. कैलाशचन्द शास्त्री**

सागारधर्मामृत में सप्तव्यसन : रूप-स्वरूप

— डॉ. राजीव प्रचण्डिया

■

जैनधर्म के जाज्वल्यमान नक्षत्र के रूप में प्रतिष्ठित श्रीमत्पंडितप्रवर आशाधरजी की कृतियों में 'सागारधर्मामृत' एक श्रावक धर्म दीपक ग्रन्थ है। इसमें श्रावकों के लिए कौनसी बातें हेय और उपादेय हैं, इस तथ्य को वैज्ञानिक व तर्क-सम्मत ढंग से रेखांकित करते हुए आदर्श एवं उन्नत तथा अहिंसापरक पद्धति पर आधृत धार्मिक जीवनचर्या को अंगीकार करने पर विशेष बल दिया गया है। सागार धर्मामृत में पापों का पोषक व्यसन-संकुल का भी वर्णन हुआ है जिसकी संक्षेप में चर्चा इस लेख का मूल प्रयोजन है।

पाप/दुराचरण/बुरी आदत/खोटी आदत/लत, इन सबका एक ही अर्थ - अभिप्राय है, वह है - व्यसन। इनमें संस्थित व्यक्ति व्यसनी कहलाता है।[1]

व्यसनों के सन्दर्भ में सागारधर्मामृत में पण्डितप्रवर श्री आशाधरजी कहते हैं कि निरन्तर उदय में आए हुए और जो किसी तरह निवारण न किए जा सकें ऐसे तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ, इन कषायों के निमित्त से जिससे चित्त के परिणाम मलिन हो जाते हैं अर्थात् कर्मों का दृढ़ बन्धन करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं ऐसे उन परिणामों के द्वारा उत्पन्न हुए पापों से जो आत्मा के चैतन्य परिणामों को आवरित कर लेते हैं तथा जो मिथ्यात्व और मिथ्यात्वी जीव दोनों का उल्लंघन करते हैं, मनुष्यों को कल्याण मार्ग से च्युत रखनेवाले ऐसे पाप व्यसन कहलाते हैं।[2]

व्यसन व्यक्ति को पतन की ओर ले जाते हैं। व्यसनी सदा पतित होता है। उसका यह पतन उसकी अपनी संस्कृति, अपनी अस्मिता, अपनी आत्मा तक ही सीमित नहीं रहता है अपितु सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र को भी अपनी गिरफ्त में ले लेता है। कोई भी व्यक्ति-समाज-राष्ट्र कितना भी ऊँचा उठ ले, विकास को प्राप्त कर ले, वह भौतिक-प्रकाश से अभिभूत भी हो सकता है जिसके समाप्त होने की सम्भावना हर क्षण बनी रहती है क्योंकि यह प्रकाश उसका अपना है ही नहीं। इस प्रकाश में अधीनता की गन्ध जो है। अधीन प्रवृत्ति कभी भी भास्वर नहीं हो सकती। आत्मप्रकाश तो व्यक्ति का अपना होता है, इसलिए निर्भीकता, तेजस्विता उसमें प्रतिपल व्याप्त रहती है। आत्मप्रकाश के प्रदीपन में कोई यदि बाधक है तो वह है व्यसन।[3]

जैनधर्म में व्यसन दुर्गति-गमन के हेतु स्वरूप माने गए हैं। ये घोर पाप के कारण हैं और कल्याण मार्ग में बाधक भी हैं। अस्तु, श्रावकों के लिए ये सर्वथा त्याज्य हैं।[4] सागारधर्मामृत में मात्र व्यसनों को त्यागने की ही नहीं, उपव्यसनों अर्थात् रसायनसिद्ध करना आदि से भी दूर रहने की बात कही गई है।[5] क्योंकि उपव्यसन भी व्यसनों की भाँति दुरंत पाप-बंध और अकल्याण का कारण है।

व्यसन के सन्दर्भ में यह बात ध्यातव्य है कि यह एक ऐसी पीड़ा है जो व्यसनी को हर क्षण सालती है। यह पीड़ा मृत्यु से भी बढ़कर है। मौत की पीड़ा को तो प्रत्येक व्यक्ति जीवन में एक ही बार भोगता/झेलता है जबकि व्यसन-पीड़ा से प्रपीड़ित व्यक्ति बार-बार मरता है, उसकी मृत्यु हर पल होती है। व्यसनी का विवेक भ्रष्ट और कुन्द हो जाता है। सद्-असद्, हित-अहित के पहिचानने-सोचने की शक्ति समाप्त हो जाती है। व्यसनी का संसार दुराचारों की नींव पर टिका होता है। विवेकशून्यता में न चाहते हुए भी वह ऐसा कार्य कर बैठता है जिसे बाद में उसे पछताने के सिवाय और कुछ हाथ नहीं लगता। वास्तव में व्यसनों के जाल में फँसे व्यक्ति के मनोभाव, बोल तथा शरीर सबकुछ दूषित-प्रदूषित होते हैं। ऐसा व्यक्ति जो कुछ सोचेगा, सुनेगा, करेगा वह सब व्यसनों पर ही केन्द्रित होगा।

स्थापित मानवीय मान्यताएँ व्यसनी के लिए खोखली/बेमानी हो जाती हैं। उसके नजरिये में सिवाय संघर्ष-द्वेष, स्वार्थ-हिंसा, कपट-कटुता और निठल्लेपन के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता है। उसका जीवन अशुभ, घोर अशुभ, शोक में ही डूबता रहता है। छोटी-छोटी बातों से वह तनावग्रस्त तथा विचलित हो जाता है। उसका धैर्य, साहस, सब समाप्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति हत्याएँ ही नहीं आत्महत्या तक कर बैठता है। वह जीवन से भागता है। पलायनवादी बनता है। उसका मन-मस्तिष्क विकृतियों से भर जाता है। पंडित आशाधरजी तो यहाँ तक कहते हैं कि व्यसनी का इस लोक में तो नाश होता ही है साथ ही उसको परलोक में भी निंद्य होना पड़ता है। वे आगे कहते हैं कि इतिहास में व्यसनियों के पतन की अनेक गाथायें संचित हैं। बड़े-बड़े राजे-महाराजे व्यसनों में

फँसकर अनेक विपत्तियों के शिकार हुए हैं। उदाहरण के लिए - जुआ खेलने से महाराज युधिष्ठिर को, मांस-भक्षण करने से राजा बक को, मद्यपान करने से यदुवंशियों को, वेश्यासेवन करने से सेठ चारुदत्त को, चोरी करने से शिवभूति ब्राह्मण को, शिकार खेलने से ब्रह्मदत्त (अन्तिम) चक्रवर्ति को और परस्त्री की अभिलाषा करने से रावण को बड़ी भारी विपत्ति का सामना करना पड़ा। इसलिए पं. आशाधरजी स्पष्टत: निर्देश देते हैं कि एक सद्वृती गृहस्थ को दुर्गति के दु:खों के कारण और पापों के उत्पादक व्यसनों को मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करना ही श्रेयस्कर है।[6]

जो व्यसनों का परित्याग कर देता है वह श्रावक निश्चयेन दर्शनिक श्रावक होता है। दर्शनिक श्रावक के विषय में सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री वसुनंदि कहते हैं कि जिसने पाँचों उदुम्बरों के साथ सप्त व्यसनों का त्याग कर दिया है और सम्यग्दर्शन से जिसकी बुद्धि विशुद्ध हो रही है, वह श्रावक दर्शनिक श्रावक है। यथा -

पंचुंबर सहियाइं सत्तवि वसणाई जो विवज्जेइ
सम्मत्तसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ ॥ 57 ॥

पण्डित आशाधरजी भी ऐसे श्रावकों को दर्शनिक श्रावक से सम्बोधते हैं।

मनुष्य को आत्मस्वरूप से विमुख रखनेवाले व्यसन अनन्त हैं किन्तु जैनधर्म में व्यसनों की यह अनन्तता सात प्रकारों में समाविष्ट है। व्यसनों के ये सात प्रकार अन्य धर्मों में भी किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त हैं। इन धर्मों में भी ये व्यसन आत्मोन्नति में बाधक माने गए हैं, अस्तु त्याज्य हैं। व्यसनों के ये सात प्रकार अर्थात् 'सप्त व्यसन' इस प्रकार हैं -

1. जूआ खेलना,
2. मांस-भक्षण,
3. मद्यपान,
4. वेश्यागमन,
5. शिकार करना,
6. चोरी करना,
7. परस्त्रीगमन।

जूआ खेलना - जीवन में श्रम करने की प्रवृत्ति का जब लोप हो जाता है और धन की लालसा बढ़ जाती है तो व्यक्ति में जूआ की लत लग जाती है। यह एक ऐसा व्यसन है जिसमें हिंसा, झूठ, चोरी, लोभ और कपट जैसे दोषों-पापों का प्राधान्य रहता है।

सागार धर्मामृत में यह स्पष्ट उल्लेख है कि इन पापों से भरे हुए ऐसे जूआ के खेलने में जो अत्यन्त आसक्त है वह अपनी आत्मा को तथा जाति को अनेक आपत्तियों में डाल

देता है अर्थात् वह स्वयं तो नष्ट होता ही है साथ ही उसके धर्म, अर्थ, काम, ये समस्त पुरुषार्थ भी नष्ट हो जाते हैं। अन्ततः अपनी जाति को भी रसातल में पहुँचा देता है।[8] जूआ में आसक्त मनुष्य का विश्वास उसकी स्वयं की जननी भी नहीं करती। वह स्वजन, परिजन, और देश-विदेश सर्वत्र निर्लज्ज हो जाता है। वह न इष्ट-मित्र गिनता है, न गुरुओं को और न माता-पिता को, वह तो अहर्निश अनेक पापात्मक कार्यों में ही घिरा रहता है।[9] ऋग्वेद में द्यूतक्रीड़ा को जीवन को बरबाद करनेवाला दुर्गुण बताया गया है। अस्तु, यह वहाँ भी त्याज्य है।[10] वास्तव में जूआ पापों का कुआँ है अर्थात् सब अनर्थों का कारण है। अस्तु, एक स्वस्थ समाज की संरचना के लिए इस पाप के कुएँ को पाटा जाना ही हितकर है।

मांसभक्षण - मांस हिंसापरक होने के कारण जहाँ एक ओर पाप और अधोगति का कारण बनता है वहीं इसको खानेवाला अपने को भयंकर रोगियों की कतार में पाता है। मांस-भक्षण करनेवाले के भाव क्रूर और निर्दयी हो जाते हैं। राक्षसी वृत्ति का जो स्वरूप है वह उसमें प्रतिबिम्बित रहता है।

मांस खाने से दर्प बढ़ता है। मद्यपान की इच्छा वेगवती होती है। इतना ही नहीं जूआ खेलने की लालसा भी बढ़ने लगती है अर्थात् मांस-भक्षण का व्यसनी सभी प्रकार के दोषों में फँसता चला जाता है।[11] महाभारत में तो यह स्पष्ट उल्लेख है कि मांसाहार प्राणिजन्य है क्योंकि मांस न तो पेड़ पर लगता है और न जमीन में ही पैदा होता है।[12] आचार्य मनु भी मांस की उपलब्धि जीवों की हिंसा से मानते हैं।[13]

पण्डित आशाधरजी कहते हैं कि मांस खाने से द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा दोनों प्रकार की हिंसा होती है और मांस-भक्षक अनन्त दुर्गतियों में भ्रमण करता हुआ अनन्त दु:ख भोगता है।[14] आगे पण्डित प्रवर कहते हैं कि मांस कैसा ही हो, चाहे कच्चा हो या पका हुआ हो और चाहे पक रहा हो हर समय उसमें अनन्त जीव उत्पन्न होते रहते हैं। पण्डित प्रवर की दृष्टि में मांसाहारी जब अपने प्रयत्न के बिना ही स्वयं मरे हुए जीव का मांस स्पर्श करने अथवा खाने से हिंसक कहलाता है तो प्रयत्नपूर्वक मारे हुए जीव का मांस भक्षण करनेवाला निश्चय ही महाहिंसक है।[15] वास्तव में जो विशुद्ध आचरणों का घमण्ड करते हुए भी मांसभक्षण करते हैं वे सर्वथा निंद्य हैं।[16] पण्डित प्रवर इस व्यसन के सन्दर्भ में और गहन चिन्तन करते हुए कहते हैं कि जो मांस खाने का संकल्प भी करता है, उसकी इच्छा भी करता है, वह सौरसेन राजा के समान नरक आदि अनेक दुर्गतियों में अनन्त काल तक परिभ्रमण करता है। इसके विपरीत जिसने मांस-भक्षण का त्याग कर दिया वह प्राणी उज्जैन के चंड नामक चांडाल अथवा खदिरसार नामक भील सम्राट की भाँति (जिन्होंने मांस का त्याग किया था) स्वर्ग आदि अनेक सुगतियों के अनन्त सुख भोगता है।[17]

इस प्रकार हर दृष्टि से मांसाहार विनाश का द्वार है।

मद्यपान - जो पेय पदार्थ मादकता को लाए वह मद्यपान है। मद्यपायी नशे में इतना चूर रहता है कि उसमें सद्-असद् का विवेक ही प्राय: समाप्त हो जाता है। समस्त मर्यादाएँ उसके सामने बेबस-सी रहती हैं। मानवता की समस्त जड़ें जर्जरित हो जाती हैं। मनुष्य अशोभनीय कर्म कर इहलोक और परलोक में भी अनन्त दु:खों को प्राप्त होता है।[18]

पं. आशाधरजी मद्य के विषय में तो यहाँ तक कहते हैं कि इसकी एक बूँद में उत्पन्न (हुए) जीव निकलकर यदि उड़ने लगें तो उनसे ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक - ये तीनों ही लोक भर जाएँ। साथ ही इसके सेवन से मोहित हुए जीव इस लोक और परलोक दोनों लोकों का सुख नष्ट करते हैं। इहभव व परभव दोनों भवों को दु:खस्वरूप बना देते हैं। अस्तु आत्मा का हित चाहनेवाले मनुष्य को इसके सेवन न करने का दृढ़ नियम लेना ही श्रेयस्कर है।[19]

मद्यपान एक ऐसा ज़हर है जो व्यक्ति को तिल-तिल कर मारता है। इसक सेवन से क्रियावाही और ज्ञानवाही नाड़ियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं, स्नायुतन्त्र विकृत हो जाते हैं। शरीर के समस्त अंगोपांग शिथिल हो जाते हैं। कालान्तर में यह व्यक्ति को सन्निपात के सन्निकट पहुँचा देता है। मद्यपान व्यक्ति को अन्तत: शरीर और मन दोनों से बेकार कर देता है। वह उसे शिव से शव बना देता है। पण्डित आशाधरजी कहते हैं कि मद्यपान से उसमें उत्पन्न होनेवाले अनेक जीवों के घात होने से द्रव्य हिंसा तथा मद्यपायी के परिणाम क्रोध, कामादिरूप होने से भावहिंसा होती है। इसप्रकार मद्यपान हिंसा से युक्त है। इनके सेवन करनेवाले दुराचरण करते हुए महादु:खी होते हैं तथा त्याग करनेवाले दोनों प्रकार की हिंसाओं से बचते हुए सुखी होते हैं।[20] मनुस्मृति में भी मदिरा को किसी मानव के पीने योग्य नहीं माना गया है।[21] महाभारत[22] और बौद्ध जातकों में भी मदिरापान के दुष्परिणामों का उल्लेख मिलता है।[23]

वास्तव में मद्यपान दुर्गुणों की खान है। संसार में जितने भी दुर्गुण हैं वे सब इसमें समाए हुए हैं। अस्तु यह सर्वथा निन्दनीय व त्याज्य माना गया है।

वेश्यागमन - लज्जा और शील से अयुक्त स्त्री वेश्या कहलाती है। वेश्यागामी अपनी शक्ति, धन और चरित्र का जहाँ नाश करता है वहीं वह एड्स जैसे अनेक भयंकर रोगों से घिरा रहता है, ऐसे कामभोगी प्रवृत्ति के व्यक्ति का विवेक भी समाप्त हो जाता है। वह अपने सुन्दर जीवन को नरक बना लेता है। इतना ही नहीं वह अपने पापरूपी गागर को भरकर इहलोक के साथ-साथ परलोक को भी बिगाड़ देता है।

पण्डितप्रवर आशाधरजी कहते हैं कि वेश्यासेवन हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों से भरे होने के कारण इसमें संलिप्त व्यक्ति अपना और अपनी जाति को भ्रष्ट-नष्ट करता हुआ पुरुषार्थ चतुष्ट्य से च्युत हो जाता है। अत: हर मनुष्य के लिए वेश्या-सेवन का

परित्याग करना ही हितकर माना गया है।[24] वास्तव में वेश्यागमन वेश्या और वेश्याभोगी दोनों के लिए ही नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज के लिए एक अभिशाप है।

सागारधर्मामृत में वेश्या को प्रकट स्त्री कहा गया है और जो पुरुष केवल पाप-भय से मन, वचन, काय से कृत, कारित अनुमोदन से भी अन्य और प्रकट स्त्री का सेवन नहीं करता है और न ही परस्त्री-लम्पट पुरुषों को सेवन करने की प्रेरणा करता है वह गृहस्थ स्वदार सन्तोषी है।[25]

शिकार करना - अत्याधुनिकता की आड़ में मानव अपनी मानवता को खोकर जब विलासी, स्वार्थी, रसलोलुप बन जाता है तो वह शिकार को अपने मनोरंजन का एक साधन चुनकर अन्ततः उसका व्यसनी बन जाता है। शिकार का व्यसन उसे अनन्तकाल तक दुःख के महासागर में गोते लगाने को विवश कर देता है। वह असंवेदनशील होकर भयभीत तृणभक्षी, निरपराधी एवं जंगल में रहनेवाले मृगादि को मौत के घाट उतार कर अपनी बहादुरी या दम्भभरी वीरता का परिधान पहन कर पाप-गर्त में गिर जाता है।[26] वह इतना निर्दयी व नृशंसी बन जाता है कि वह अपने पुत्र के प्रति भी दया नहीं रख पाता।[27] शिकारी भयंकर पापों का संचय कर बहुविध कष्ट उठाता रहता है। लाटी संहिता[28] तथा श्रीमद्भागवत[29] में यह स्पष्ट उल्लेख है कि जो शिकार के शौकीन हैं, पशुघातक हैं उन प्रेतों के सदृश नर-पिशाचों के यमदूत अपना शिकार बनाकर समाप्त करते हैं।

पं. आशाधरजी शिकार या आखेट खेलने में हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों का आस्रव मानते हैं। इसलिए इन पापास्रवों से बचने के लिए प्रत्येक पाक्षिक श्रावक को इसका त्याग करने का निदेश देते हैं।[30] वास्तव में शिकार जंगलीपन की निशानी है जो शिकारी को नरकोन्मुख करती हुई उनके विनाश का प्रमुख कारण बनती है।

चोरी करना - बिना इजाजत के किसी भी चीज को अपना लेना चोरी है। चोरी का जो मूलकेन्द्र है वह है परकीय वस्तु के प्रति आसक्ति/लोभवृत्ति। लोभ का घेरा व्यक्ति को पूर्णरूपेण निष्क्रिय बना देता है। उसमें अर्जन-उपार्जन की जो शक्ति है उसे क्षीण कर हथियाने जैसी कुवृत्ति सदा सजग रहती है।

चोर में सद्गुणों का सर्वथा अभाव होता है। वह सदा भयभीत, आत्मग्लानि में डूबा हुआ सशंकित रहता है। उसे कभी आत्मतोष नहीं मिलता। वह दूसरों की नजरों में गिरे या न गिरे स्वयं अपनी नजरों में अवश्य गिर जाता है। वह इस लोक में और परलोक में तीव्र वेदनाओं को भोगता है।[31] इस प्रकार चोरी का व्यसन जहाँ सामाजिक-राष्ट्रीय अपराध है वहीं नैतिक पतन भी है। इस एक दुर्गुण से व्यक्ति में अनके दुर्गुण स्वतः ही समा जाते हैं। अस्तु, सामाजिक-आध्यात्मिक उत्कर्ष हेतु चोरी के व्यसन का त्याग प्रथम शर्त है। वास्तव में चोरी पतन का प्रमुख सोपान है। यजुर्वेद[32] और बाइबिल[33] में भी इसे निषेध माना गया है।

पण्डित आशाधरजी स्थूल चोरी की चर्चा करते हुए कहते हैं कि यह चोर है, यह धर्मपातकी है, यह हिंसक है, इत्यादि नाम धरानेवाली चोरी स्थूल चोरी है। किसी की दीवार फोड़कर, किसी तरह बिना दिया हुआ दूसरे का धन ले लेना भी स्थूल चोरी है। ऐसे स्थूल चोरी का जिसने परित्याग कर दिया हो वह अचौर्याणुव्रती कहलाता है।[34] पण्डित प्रवर आगे कहते हैं कि जो पुरुष संक्लेश परिणामों से अर्थात् 'यह पदार्थ मुझे चाहिए' ऐसे लोभ से बिना दिये हुए दूसरे के तृण आदि न कुछ पदार्थ भी ग्रहण करता है अथवा उठाकर दूसरे को दे देता है वह अवश्य ही चोर है।[35] पण्डित आशाधरजी की दृष्टि में जो धन पृथ्वी में गड़ा हो या जिसका कोई स्वामी न हो उसे भी ग्रहण करना चोरी है। इसके साथ ही जो पदार्थ अपना ही है परन्तु यदि उसके अपने होने से सन्देह हो उसे भी प्रयोग में लाना चोरी ही है।[36]

परस्त्रीगमन - ब्याहता/स्वकीया की अपेक्षा परकीया के साथ उसकी ही संस्तुति से संसर्ग स्थापित करना या संसर्ग करने की भावना परस्त्रीगमन कहलाता है, जो व्यभिचार को बढ़ावा देता है, पापाचार का संवर्धन करता है। वाल्मीकि ऋषि[37] और कविकुल गुरु कालिदास[38] तो परस्त्रीसेवन को अनार्यों का कार्य कहते हैं। आचार्य मनु इसे निकृष्टतम कार्य मानते हैं।[39] यह व्यसन सामाजिक, धार्मिक और नैतिक दृष्टियों से अहितकर है।

परस्त्रीगामी का न तो अपना विवेक होता है और न ही वह अपने धर्म का, कर्त्तव्य का सम्यक् पालन ही कर पाता है। वह सदा अविश्वासी व असन्तुष्ट रहता है। धर्मशास्त्र कहते हैं - ऐसे व्यसनी को सिवाय पापों के और दु:खों के कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। उसे कोई भी वस्तु अच्छी नहीं लगती है, नींद भी उसे नहीं आती है। वह केवल विरह से संतप्त रहता है।[40] पं. आशाधरजी परस्त्रीसेवन के विषय में कहते हैं कि परस्त्रीसेवन हिंसा, झूठ और चोरी आदि पापों से भरा हुआ है। इससे जीव स्वयं नष्ट होता है, जातिभ्रष्ट होता है और धर्म, अर्थ और काम इन त्रय पुरुषार्थों से भी भ्रष्ट होता है।[41] पण्डितप्रवर की दृष्टि में परस्त्रीसेवन करनेवाले को द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा दोनों ही बहुत होती हैं क्योंकि उसके राग-द्वेष की तीव्रता अधिक होती है।[42] परस्त्रीसेवन में भी सुख नहीं मिलता है, क्योंकि उसमें यह शंका बनी रहती है कि मुझे कोई अपना या पराया मनुष्य देख न ले।[43] वास्तव में परस्त्रीगमन अर्थात् पराई स्त्री के साथ अनुचित सम्बन्ध से आत्मिक गुणों का पतन होता है।

पण्डित प्रवर आशाधरजी 'सागारधर्मामृत' में एक आदर्श दर्शनिक श्रावक की चर्या को पापबन्ध से रोकने के लिए इन सप्तव्यसनों से संदर्भित त्यागव्रत के अतिचारों का भी जो उल्लेख करते हैं वह सर्वथा उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है।

द्यूत-त्यागव्रत के अतिचार के सन्दर्भ में पण्डित प्रवर का कथन है कि जिसने द्यूत क्रीड़ा-त्याग का व्रत ले लिया है ऐसे दर्शनिक श्रावक के लिए मन प्रसन्न करने हेतु भी

होड़ अर्थात् शर्त लगाने या जूआ देखना आदि भी उसके व्रत में दोष उत्पन्न करनेवाले अतिचार हैं क्योंकि ऐसा करने से हर्ष और क्रोध उत्पन्न होता है जिससे राग-द्वेष परिणाम बनते हैं जो पाप के कारण हैं।[44]

पण्डितप्रवर चमड़े के बर्तन में रखा हुआ जल, घी, तेल आदि, चमड़े में लपेटी हुई या उसमें रखी हुई हींग और जो स्वाद से चलित हो गए हैं ऐसे घी आदि समस्त पदार्थों के सेवन को मांस-त्यागव्रत का अतिचार मानते हैं। अस्तु, वे मांस-त्याग करनेवाले को इन सब पदार्थों को त्यागने का बल देते हैं।[45] इसीप्रकार मद्यत्याग के अतिचारों का उल्लेख करते हुए पण्डितप्रवर कहते हैं कि दर्शनिक श्रावक को अचार, मुरब्बा, दहीबड़ा, दो दिन और दो रात वासी-तिवासी दही और छाछ, कांजी तथा वे पदार्थ जिसके ऊपर सफेद-सफेद फूल से आ गए हैं आदि पदार्थ नहीं खाने चाहिए क्योंकि इनमें रसकाय की अनन्त जीव राशियाँ उत्पन्न होती रहती हैं।[46] पण्डित आशाधरजी वेश्या-त्यागव्रत के अतिचार प्रकरण में यह स्पष्ट लिखते हैं कि जिस श्रावक ने वेश्या-सेवन-त्याग का व्रत ले लिया है उसे गीत, नृत्य, संगीत में आसक्त नहीं होना चाहिए, किन्तु इन तीनों का सम्बन्ध जिनमन्दिर या चैत्यालय में धर्मवृद्धि के लिए है तो उसमें कोई दोष नहीं है। पण्डितप्रवर आगे कहते हैं कि बिना प्रयोजन इधर-उधर घूमना-फिरना, व्यभिचारी लोगों की संगति करना, वेश्या के घर आना-जाना, ऐसे लोगों से वार्तालाप करना, उनका आदर-सत्कार करना आदि दोषों से बचते रहने का दर्शनिक श्रावक को सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए।[47] पण्डित आशाधर की पापर्द्धित्यागव्रत के अर्थात् शिकार खेलने के अतिचार को त्यागने पर बल देते हुए कहते हैं कि दर्शनिक श्रावक को जिसने शिकार खेलने का त्याग कर दिया है उसे पंचरंगे वस्त्र, रुपया, पैसा आदि मुद्रा, पुस्तक, काष्ठ, पाषाण, धातु, दांत आदि में नाम निक्षेप अथवा 'यह वही है' इस प्रकार के स्थापना निक्षेप से स्थापन किए हुए हाथी, घोड़े आदि जीवों का छेदन-भेदन कभी नहीं करना चाहिए। इस सन्दर्भ में पण्डितजी आगे कहते हैं कि वस्त्र-पुस्तक आदि में बनाए हुए जीवों का छेदन-भेदन करना केवल शास्त्रों में ही निंद्य नहीं है किन्तु लोक-व्यवहार में भी निंद्य गिना जाता है।[48] चौर्यव्यसन त्यागव्रत के अतिचार के अन्तर्गत पण्डितप्रवर की धारणा है कि जो दर्शनिक श्रावक देश, काल, जाति, कुल आदि के अनुसार नहीं अपितु राजा के प्रताप से दायादि के जीवित रहते हुए भी इससे गाँव, सुवर्ण आदि द्रव्य ले लेता है अथवा जो कुल के साधारण द्रव्य को भाई-दायादों से छिपा लेता है वह अचौर्यव्रत निरतिचारी कभी नहीं हो सकता। लेकिन इसके साथ इन्होंने यह भी कहा है कि यदि वह किसी दायाद के मरने पर यथायोग्य न्याय और नीति के अनुसार उसका धन ले तो उसमें कोई दोष नहीं है।[49] पण्डित आशाधरजी परस्त्रीत्यागव्रत के अतिचार त्यागने के सन्दर्भ में कहते हैं कि परस्त्रीत्याग करनेवाले दर्शनिक श्रावक को परस्त्रीव्यसन के त्यागरूप व्रत को शुद्ध रखने

की इच्छा से किसी कुमारी कन्या के साथ सेवन करना निषेध है अथवा इस कन्या का विवाह किसी अन्य के साथ न हो, मेरे ही साथ हो इस अभिप्राय से अर्थात् अपना विवाह करने के मन्तव्य से किसी कन्या के दोष प्रगट करना भी वर्जनीय है। किसी कन्या के साथ गांधर्व विवाह तथा किसी कन्या को हरणभर उसके साथ विवाह करना भी दोष है। ये सब परस्त्रीत्याग के अतिचार कहे गए हैं।[50] दर्शनिक श्रावक को इनका त्याग करना होता है।

पण्डितप्रवर इतने तक ही सीमित नहीं हैं कि व्यक्ति इन व्यसनों को स्वयं त्याग करे अपितु वह इन व्यसनों को स्वयं तो त्याग करे ही साथ ही दूसरों के लिए भी इनका प्रयोग कभी नहीं करे तभी वह इन सप्त व्यसन त्यागव्रतों को विशुद्ध रूप से पालन कर सकता है।[51]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि पं. आशाधरजी ने 'सागारधर्मामृत' में प्रत्येक श्रावक को व्यसनों के रूप-स्वरूप का परिचय कराते हुए व्यसनमुक्त एवं विवेकपूर्ण जीवन जीने की उत्तम प्रेरणा दी है।

---

1. व्यसनों को त्यागिए : अपने को पहचानिए, लेखक, डॉ. राजीव प्रचंडिया, जयकल्याणश्री मासिक पत्र, व्यसनमुक्ति अंक, दिसम्बर 96, पृष्ठ 2।
2. जाग्रत्तीव्र कषायकर्कशमनस्कारार्पितैर्दुष्कृतै।
चैतन्यं तिरयत्तमस्तरऽपि द्यूतादिपच्छ्रेपसः।
पुंसो व्यस्यति तद्विदो व्यसनमित्याख्यांत्यत स्तद्मतः।
कुर्वीतापि रसादि सिद्धि परतांतत्सोदरीं दूरगां॥-सागारधर्मामृत, पं. आशाधर, 3.18
3. व्यसनों को त्यागिए : अपने को पहचानिए, लेखक, डॉ. राजीव प्रचण्डिया, जयकल्याणश्री मासिक पत्र, व्यसनमुक्ति अंक, दिसम्बर 96, पृष्ठ 2।
4. जूयं मज्जं मंसं बेसा पारद्धि-चोर-परपारं।
दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि॥ - वसुनंदि श्रावकाचार, 59
5. सागारधर्मामृत, पं. आशाधर, 3.18
6. द्यूताद्धर्मतुजो बकस्य पिशितान्मद्याद्यदूनां विप-
च्चारो कामुकया शिवस्य चुरया यद्ब्रह्मदत्तस्य च।
पापर्द्ध्या परदारतो दशमुखस्योच्चैरनुश्रूयते
द्यूतादिव्यसनानि घोरदुरितान्युज्झेत्त दार्यस्त्रिधा॥ 3.17॥ - सागारधर्मामृत
7. (क) वसुनंदि श्रावकाचार, 59
(ख) सागारधर्मामृत, अ. 3, श्लोक 17

8. द्यूते हिंसानृतस्तेय लोभमायामये सजन्।
क्व स्वं क्षिपति नानर्थे वेश्याखेटान्यदारवत॥ 2.17 ॥ - सागारधर्मामृत

9. ण गणेइ इट्ठमित्तं ण गुरुं ण य मायरं पियरं वा।
जूवंधो वुज्जाइं कुणइ अकज्जाइं बहुयाइं॥ 63 ॥
सजणे य परजणे वा देसे सव्वत्थ होइ णिल्लज्जो।
माया वि ण विस्सासं वच्चइ जूयं रमंतस्स॥ 64 ॥ - वसुनंदि श्रावकाचार

10. ऋग्वेद, 10/34/13

11. मंसासंणेण वड्ढइ दप्पो दप्पेण मज्जमहिलसइ।
जूयं पि रमइ तो तं पि वण्णिए पाउणइ दोसे॥ 86 ॥ - वसुनंदि श्रावकाचार

12. महाभारत, अनुशासन पर्व, 115/24

13. 'नारकृत्वा' प्राणिनां हिंसा, मांसमुत्पद्यते क्वचित्। - मनुस्मृति, अ. 5

14. प्राणिहिंसार्पितं दर्पमर्पयन्तरसं तरां।
रसयित्वा नृशंस: स्वं विवर्तयति संष्टतौ॥ 2.8 ॥ - सागारधर्मामृत

15. हिंस्त्र: स्वयंम्रतस्यापि स्याद श्रन् वा स्पृशन्यलं।
पक्कापक्का हि तत्पश्यो निगोदौध सुत: सदा॥ 2.7 ॥ - वही

16. स्थाने श्रुतं पलं हेतो: स्वतश्चाशुचिकश्मला:।
श्वादि लाला वदप्पद्यु: शुचिंमन्या: कथंनुतत्॥ 2.6 ॥ - वही

17. भ्रमतिपिशिताशना भिध्यानादपि सौरसेनवत्कुगति:।
तद्विरतिरत: सुगतिं श्रयति नरश्चंडवत्खदिरवद्वा॥ 2.9 ॥ - वही

18. मज्जेण णरो अवसो कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं।
इहलोए परलोए अणुहवइ अणंतयं दुक्खं॥ 70 ॥ - वसुनन्दि श्रावकाचार

19. यदेकबिंदो: प्रचरंति जीवाश्चेत्तत् त्रिलोकीमपिपूरयंति।
यद्विक्लवाश्चेमममुं च लोकं यस्यंति तत्कश्मवश्यमस्येत्॥ 2.4 ॥ - सागारधर्मामृत

20. पीते यत्र रसांगजीवनिवहा: क्षिप्रंम्रियन्तेऽखिला:।
कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतय: सावद्यमुंद्यति च।
तन्मद्यं व्रतयन्न धूर्तिल परास्कंदीव यात्यापदं
तत्पायी पुनरेकपादिव दुराचारं चरन्मज्जति॥ 2.5 ॥ - वही

21. सुरावैमलमन्नानां तस्माद् ब्राह्मण-राजन्यौवैश्चश्च न सुरापिवेत्। - मनुस्मृति, 11/93

22. महाभारत, शान्तिपर्व, 165/47-48, 76

23. कुम्भ जातक, प्रथम खण्ड 471, पंचम खण्ड, गा. 37, 39, 45, 51 पृष्ठ 107।

24. सागारधर्मामृत, पं. आशाधर, 2.17।

25. सोऽस्ति स्वदार सन्तोषी योऽन्यस्त्रीप्रकटस्त्रियौ।
न गच्छत्यंहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा ॥ 4.52 ॥ - सागारधर्मामृत

26. णिच्चं पलायमाणो तिणचारी तह णिरवराहो वि।
कह णिग्घणो हणिज्जइ आरण्णणिवासिणो वि मए ॥ 96 ॥ - वसुनन्दि श्रावकाचार

27. पापद्धौतनुमद्वधोज्झित घृणः पुत्रैऽपि दुष्टाशयः। - कर्पूर प्रकरण

28. लाटी संहिता, 2/141-148।

29. मृगयारसिकानित्यं अरण्येपशुघातकः।
परेतांस्तान् यमभटा लक्ष्मीभूतान् नराधमान् ॥ 8-22-46 - श्रीमद्भागवत

30. सागारधर्मामृत, 2.17

31. परदव्वहरणसीलो इह-परलोए असायबहुलाओ।
पाउणइ जायणाओ ण कयावि सुहं पलोएइ ॥ 101 ॥
हरिऊण परस्स धणं चोरो परिवेवमाण सव्वंगो।
चइऊण णिय य गेहं धावइ उप्पहेण संतत्तो ॥ 102 ॥
किं केण वि दिट्ठो हं ण वेत्ति हियएण धगधंगतेण।
लहुक्कइ पलाइ पखलइ णिद्दं ण लहेइ भयविट्ठो ॥ 103 ॥ - वसुनंदिश्रावकाचार

32. कस्यचित् किमपि जो हरणीयम्। 36/72 - यजुर्वेद

33. 'Thou Shalt not Steal. - बाइबिल, ईसामसीह

34. चौरव्यपदेशकरस्थूलस्तेयव्रतो मृतस्वधनात्।
परमुदकादेश्चाखिल भोग्यान्न होद्ददीत न परस्वं ॥ 4.46 ॥ - सागारधर्मामृत

35. संक्लेशाभिनिवेशेन तृणमप्यन्यभर्तृकं।
अदत्तमाददानो वा ददानस्तस्करो ध्रुवम् ॥ 4.47 ॥ - वही

36. नस्वामिकमिति ग्राह्यं निधानादि धनं यतः।
धनस्यास्वामिकस्येह दायादो मेदिनीपतिः ॥ 4.48 ॥
स्वमपि स्वं मम स्याद्वा न वेति द्वापरास्पदं।
यदा तदाऽऽदीयमानं व्रतभंगाय जायते ॥ 4.49 ॥ - वही

37. परदाराभिमर्शात्तु नान्यत् पापतरं महत्। 338/30 - वाल्मीकि रामायण

38. अनार्यः परदारव्यवहारः। - अभिज्ञान शाकुन्तलम्

39. नहीदृशमनापुण्यं लोकेकिंचित दृश्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ 4/134 - मनुस्मृति

40. दट्ठूण परकलत्तं णिब्बुद्धी जो करेइ अहिलासं।
ण य किं पितत्थ पाइव पावं एमेव अज्जेइ ॥ 112 ॥
ण प कत्थ वि कुणइ रइं मिट्ठं पिय भोयणं ण भुंजेइ।
णिद्दं पि अलह माणो अच्छइ विरहेण संतत्तो ॥ 115 ॥

अह भुंजइ परमहिलं अणिच्छमाणं बलाधरेऊणं।
किं तत्थ हवइ सुक्खं पच्चेल्लिउ पावए दुक्खं॥ 118॥ - वसुनन्दिश्रावकाचार

41. सागारधर्मामृत, 2.17

42. सागारधर्मामृत, 4.55

43. समरसरसरंगोद्गमृते च काचित्क्रिया न निर्वृत्तये।
स कुत: स्यादनवस्थितचित्ततया गच्छत: परकलत्रं॥ 4.54॥ - सागारधर्मामृत

44. दोषोहोढाद्यपि मनोविनोदार्थं पणोज्झिन:।
हर्षोमर्षोदयांगत्वात्कषायो ह्यंहसेंऽजसा॥ 3.19॥ - वही

45. चर्मस्थमम्भ: स्नेहश्च हिंग्वसंहृत चर्म च।
सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोष: स्यादामिषव्रते॥ 3.12॥ - वही

46. संधानकं त्यजेत्सर्वं दधि तक्रं द्व्य होषितं।
कांजिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोऽन्यथा॥ 3.11॥ - वही

47. त्यजेत्तौर्यत्रिकासक्तिं वृथाट्या षिङ्गसंगतिम्।
नित्यं पण्यांगजात्यागीतद्ग्रेह गमनादि च॥ 3.20॥ - वही

48. वस्त्रनाणकपुस्तादि न्यस्तजीवच्छिदादिकम्।
न कुर्यात्त्यक्त पापर्द्धिस्तद्धि लोकेऽपि गर्हितम्॥ 3.22॥ - वही

49. दायादाज्जीवतो राजवर्चसाद्गृह्णतो धनम्।
दायं वाऽपन्हुवानस्य क्वाचौर्यव्यसनं शुचि॥ 3.21॥ - वही

50. कन्यादूषणगांधर्वविवाहादि विवर्जयेत्।
परस्त्रीव्यसनत्यागव्रत-शुद्धितिधित्सया॥ 3.23॥ - वही

51. व्रत्यते यदिहामुत्राप्य पायावद्य कृत्स्वयम्।
तत्परेऽपि प्रयोक्तव्यं नैवं तदव्रतशुद्धये॥ 3.24॥ - वही

- मंगलकलश, 394
सर्वोदयनगर, आगरा रोड
अलीगढ़-202001 (उ.प्र.)

▲▲▲

सागारधर्मामृत में भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेचन

— श्रीमती अर्चना प्रचण्डिया

■

मानव जीवन का आधार दो बिन्दुओं पर केन्द्रित है - एक आचार और दूसरा विचार। आचार का आधार है आहार। आहार जीवन का अनिवार्य अंग है। यह मनुष्य की वृत्तियों-प्रवृत्तियों व भावों-विचारों को रूपान्तरण करने की शक्ति व चेतना को परिष्कृत व ऊर्जस्वल बनाए रखता है। व्यक्तित्व के विकास में आहार की भूमिका सर्वोपरि मानी गई है।

मानव जीवन का लक्ष्य यदि आत्म-उत्कर्ष पर आधृत है तो निःसन्देह ऐसे मानव-साधक या श्रावक-श्रमण को सर्वप्रथम अपने आहार पर ध्यान देना होता है। उसका आहार-विवेक सदा सक्रिय एवं सचेत रहता है। जीवन-यापन के लिए जो कुछ भी वह आहार के रूप में ग्रहण करता है, ग्रहण से पूर्व उसके समक्ष उसका लक्ष्य सदा विद्यमान रहता है। अस्तु, उसकी चित्तवृत्तियाँ अन्तरंग से ही अभक्ष्य की ओर से हट जाती हैं। भक्ष्य और अभक्ष्य का सम्यक्बोध उसे परिमित, मर्यादित, सन्तुलित, सात्विक तथा आत्मसाधना में व्यवधान उपस्थित न करनेवाले शाकाहारी और खाद्य पदार्थ लेने की प्रेरणा प्रदान करता है।

पण्डित आशाधरजी कृत 'सागारधर्मामृत' में जहाँ श्रावकों के मूल व उत्तर गुणों आदि की चर्चा हुई है, वहीं श्रावकों के लिए कौन-से पदार्थ खाने योग्य हैं और कौन-से त्यागने

योग्य हैं? और क्यों? कितना और कब इनका सेवन किया जाए? इन सबका भी सार्थक विवेचन परिलक्षित है। वर्तमान परिवेश में विभिन्न सामाजिक व धार्मिक संगठनों द्वारा समाज और राष्ट्र के अभ्युदय में तथा मानव कल्याणार्थ उत्तम आहार के प्रति जो जागरण पैदा किया जा रहा है उस दिशा में प्रस्तुत कृति में पं. आशाधरजी ने भक्ष्य-अभक्ष्य विषयक जो चिंतन दिया है वह निश्चयेन सम-सामयिक व महत्त्वपूर्ण है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत लेख 'सागारधर्मामृत में भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेचन' प्रासंगिक विषय पर संक्षेप में चर्चा करना हमें ईप्सित है।

पण्डित आशाधरजी सागारधर्म के पालनार्थ जिन चौदह गुणों का उल्लेख करते हैं उनमें एक गुण युक्त-आहार-विहार से सम्बन्धित है जिसमें भोजन के सन्दर्भ में वे कहते हैं कि जिसका भोजन यथायोग्य व शास्त्रानुसार हो अर्थात् धर्म-शास्त्र में जिन पदार्थों के खाने का निषेध न किया गया हो और जिनके खाने में रत्नत्रय धर्म की हानि न होती हो, ऐसा भोजन और भोजन-विधि एक श्रावक के लिए सर्वथा ग्राह्य है। यथा -

युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी॥ 1.11.3॥

इसी क्रम में वे श्रावक के अष्ट मूल गुणों में मद्य, मांस, मधु तथा पीपल आदि पाँच प्रकार के उदुम्बर फलों को अभक्ष्य बताते हैं क्योंकि इनके सेवन से इनमें राग करने रूप भाव-हिंसा और इनमें उत्पन्न होनेवाले जीवों का विनाश हो जाने से द्रव्य-हिंसा होती है। यथा -

तत्रादौ श्रद्दधज्जनीमाज्ञां हिंसामपासितुम्।
मद्यमांसमधून्युज्झेत्पंचक्षीरिफलानि च॥ 2.2॥

उदुम्बर फलों के विषय में पण्डितजी कहते हैं कि जिनवृक्षों के तोड़ने से दूध निकलता है वे उदुम्बर फल कहलाते हैं। ये पाँच प्रकार के होते हैं, यथा - बड़, गूलर, (ऊमर), पीपल, पाकर, कठूमर (काले गूलर या अंजीर)। दूध निकलने के कारण इन फलों को क्षीर वृक्ष से भी जाना जाता है। इस प्रकार ये क्षीर वृक्ष या उदुम्बर फल तथा मद्य, मांस, मधु दोनों प्रकार की हिंसाओं से युक्त होने के कारण अभक्ष्य हैं। इन पाँच फलों को खानेवाला सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के त्रस जीवों की हिंसा करता है क्योंकि ये जीव इनमें सदैव विद्यमान रहते हैं। इतना ही नहीं, पण्डितजी आगे कहते हैं कि इन फलों को सुखाकर खाने पर भी दोष होता है क्योंकि इनमें अधिक राग रखने से व्यक्ति अपनी आत्मा का घात करते हैं। और जो त्रस जीव उसमें मर गए हैं उनका मांस भी उसी में बना रहेगा उसका भी दोष रहेगा। इसलिए इन उदुम्बरों का हरे-सूखे दोनों रूपों में त्याग ही उचित है। इसी प्रकार सूखे मद्य, मांस, मधु के सेवन में भी यही बात चरितार्थ है। यथा -

पिप्पलोदुम्बर-प्लक्ष-वह-फल्गु-फलान्यदन्।
हन्त्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रागयोगतः॥ 2.13॥

इसी प्रसंग में पण्डित जी आगे कहते हैं कि श्रावक को अनजान फल, जिन्हें वह नहीं जानता है, नहीं खाना चाहिए। वे कहते हैं कि ककड़ी, कचरियाँ, बेर, सुपारी आदि फलों को और मटर आदि की फलियों को विदारण किए बिना अर्थात् मध्यभाग को शोधन किए बिना खाना अनुचित है। यथा -

सर्वं फलमविज्ञातं वार्ताकादि त्वदारितम्।
तद्वद्भल्लादिसिम्बीश्च खादेन्नोदुम्बरव्रती॥ 3.14॥

जो मांस का सेवन करते हैं वे निर्दयी होते हैं, उनमें दया के भाव सदा विलुप्त रहते हैं; जो मद्यपान के शौकीन हैं वे सत्यव्रत से सदा विमुख रहते हैं तथा जो मधु और उदुम्बर फलों का सेवन करते हैं वे घातक और क्रूर होते हैं। यथा -

मांसाशिषु दयानास्ति न सत्यंमद्यपायिषु।
आनृशस्यंनमर्त्येषुमधूदुम्बर सेविषु।

इस प्रकार ये आठ प्रकार के अभक्ष्य पदार्थ सेवन करनेवाले के चित्त में दुर्गुण पैदा करते हैं। ये मन को मोहित करनेवाले होते हैं। ये पापबन्ध का कारण बनते हैं। इनमें आसक्त मनुष्य नरकादि दुर्गतियों के अनन्त दुःख भोगते हैं। जबकि एक सद्श्रावक को सदा पाप से पुण्य और पुण्य से मोक्ष की ओर अग्रसर होना चाहिए और इसके लिए उसे इन अभक्ष्य पदार्थों का यम, नियम रूप से या जन्मभर के लिए त्याग अत्यन्त अपेक्षित है। मद्य के विषय में पण्डित आशाधरजी कहते हैं कि मद्य अत्यन्त अभक्ष्य पदार्थ है जिसके पीनेवालों के परिणाम मान, क्रोध, काम, भय, भ्रम, शोक आदि मिथ्याज्ञान से सराबोर रहते हैं तथा मद्यपायी के विचार, संयम, ज्ञान, सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा आदि सद्गुण उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जिस तरह अग्नि का एक ही कण तृणों के समूह को नाश कर देता है। यथा -

पीते यत्र रसांग जीवनिवहाः क्षिप्रं म्रियन्तेऽखिलाः
कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतयः सावद्यमुद्यन्ति च।
तन्मद्यं व्रतयन्न धूर्तिल परास्कंदीव यात्यापदं
तत्पायी पुनरेकपादिव दुराचारं चरन्मज्जति॥ 2.5॥

पण्डित आशाधरजी मांस को सर्वप्रकार से अभक्ष्य पदार्थों में स्वीकारते हैं। इनकी दृष्टि में मांस लोहू-वीर्य-विष्ठा जैसे घृणित पदार्थों से विनिर्मित है। वे कहते हैं कि जो सभ्य लोग बाज-कुत्ता आदि जीवों की लार मिले हुए मांस को अथवा बाज, कुत्ता आदि

जीवों की लार के समान अपवित्र मांस को खाते हैं वे निश्चय ही बड़ा भारी नीच कृत्य करते हैं। यथा -

स्थानेऽश्नन्तु पलं हेतोः स्वतश्चाशुचि कश्मलाः।
श्वादिलालावदप्यद्युः शुचिम्मन्याः कथन्नु तत्॥ 2.6॥

पण्डितजी मांस को अपवित्र और अभक्ष्य मानने में तर्क देते हैं कि जब स्त्री रक्त के बहने मात्र से निंद्य और अपवित्र गिनी जाती है तब दो धातुओं से उत्पन्न हुआ मांस भला कैसे पवित्र हो सकता है? यह अपने में परमसत्य है कि शरीर का जब घात किया जाएगा तब ही मांस की उत्पत्ति होगी। प्राणों का घात किए बिना मांस की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। इसलिए मांसभक्षी पुरुष हिंसा का अनिवार्य रूप से दोषी होता है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी कहा है -

न बिना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात्प्रसरत्यनिवारिता हिंसा॥ 62॥

सागारधर्मामृत में पण्डितजी यह भी कहते हैं कि जो लोग मृत मछली आदि पंचेन्द्रिय जीवों के मांस खाने में कोई दोष नहीं मानते हैं वे सचमुच भ्रम और अज्ञान में हैं। ऐसे कदाग्रही लोगों के लिए वे कहते हैं कि -

हिंस्रः स्वयं मृतस्यापि स्यादश्नन्वा स्पृशन्पलं।
पक्वा-पक्वाहि तत्पेशयो निगोतौघसुतः सदा॥ 2.7॥

अर्थात् जो जीव बिना किसी प्रयत्न से, अपने आप मरे हुए मछली, भैंसों आदि प्राणियों का मांस खाता है अथवा केवल उसका स्पर्श करता है उसे भी हिंसा का दोष लगता है क्योंकि मांस का टुकड़ा चाहे कच्चा हो, चाहे अग्नि में पकाया हुआ हो अथवा पक रहा हो उसमें हर समय साधारण निगोद जीवों का समूह उत्पन्न होता रहता है, अस्तु, मांस सदा अभक्ष्य है।

पण्डितजी की धारणा है कि जो मांस खाता है वह क्रूर कर्म करनेवाला हिंसक अपने आत्मा को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव - इन पंच परावर्तनरूप दुःखमय संसार में अनन्तकाल तक परिभ्रमण करता है। इसके खाने से इन्द्रियों का मद भी खूब बढ़ता है, यथा-

प्राणिहिंसार्पितं दर्पमर्पयत्तरसं तरां।
रसयित्वा नृशंसः स्वं विवर्तयति संसृतौ॥ 2.8॥

मांस भक्षण करनेवाले 'मांस भक्षण में कोई दोष नहीं' है इस बात की पुष्टि के लिए अनेक कुतर्कों का सहारा लेते हैं। उदाहरणार्थ वे कहते हैं कि गेहूँ, जौ, उड़द आदि मनुष्यों के खाने के अन्न हैं, वे भी एकेन्द्रिय जीवों के अंग हैं। जब उनका भक्षण करने में दोष

नहीं है तो मांस-भक्षण करने में भी दोष नहीं होना चाहिए। क्योंकि अन्न के समान मांस भी प्राणियों का अंग है। इस कुतर्क का खण्डन करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि -

प्राण्यंगत्वे समेऽप्यन्नं भोज्यं मांसं न धार्मिकैः।
भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका॥ 2.10॥

अर्थात् - यद्यपि मांस और अन्न दोनों ही प्राणी का अंग है तथापि मांस, लोहू, मज्जा आदि विकारों से उत्पन्न होता है जबकि गेहूँ, उड़द आदि धान्य एकेन्द्रिय जीव तो हैं परन्तु उनमें रक्त-मज्जा आदि का अभाव है। अस्तु, एकेन्द्रिय जीवों के शरीर को मांस नहीं कह सकते। उदाहरण के लिए नीम को वृक्ष कह सकते हैं परन्तु इस धरती पर जितने भी वृक्ष हैं, उन सबको नीम नहीं कह सकते। इसलिए अन्न जीव का शरीर होकर भी मांस की कोटि में नहीं आ सकता और न इसके खाने में कोई दोष है। ऐसे ही पुरुष स्त्री का उपभोग करता है पर केवल अपनी पत्नी का ही उपभोग कर सकता है माता का नहीं। इसी तरह धान्य ही भक्ष्य है, मांस नहीं। अपने कथन की पुष्टि में पण्डितजी कहते हैं कि एक ही स्थान पर उत्पन्न होनेवाली दो वस्तुओं के स्वभाव में बड़ा अन्तर होता है। जैसे - गाय का दूध भक्ष्य है परन्तु उसका मांस अभक्ष्य है। इसी प्रकार रत्न और विष दोनों ही सर्प में उत्पन्न होते हैं। रत्न विष का नाश करनेवाला और विष प्राणों का नाश करनेवाला है। ऐसे ही एक ही जल-मिट्टी से उत्पन्न होनेवाले वृक्ष के पत्ते आयुवर्धक हैं और उसकी ही जड़ आयु को नाश करनेवाली है।

पण्डितजी उन पदार्थों को भी अभक्ष्य मानते हैं जो चमड़े के बर्तन में रखे हुए हों या जिनमें चमड़े का स्पर्श हो, जैसे - चमड़े के बर्तन में रखा हुआ जल, घी, तेल, अन्न, नमक आदि; चमड़े में लपेटी हुई या रखी हुई हींग और जो स्वाद से चलित हो गए ऐसे घी आदि समस्त पदार्थ। यथा -

चर्मस्थमम्भः स्नेहश्च हिंग्वसंहृत चर्म च।
सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यादामिषव्रते॥ 3.12॥

पण्डित आशाधरजी मधु (शहद) को भी अभक्ष्य की कोटि में मानते हैं क्योंकि मधु (शहद) भ्रमर, डांस, मधुमक्खियों आदि प्राणियों के विनाश होने से उत्पन्न होता है। इसमें हर समय जीवों की उत्पत्ति बनी रहती है। शहद मधुमक्खी के गर्भ से उत्पन्न होता है और छोटे-बड़े अण्डे-बच्चों को दबाकर निचोड़ने से निकलता है। यह शहद मधुमक्खी आदि प्राणियों की झूठन है, वमन है। इस प्रकार शहद या मधु बहुत अपवित्र है, अभक्ष्य है। इसकी एक बूँद खानेभर से व्यक्ति को सात गाँव जलाने के पाप से भी अधिक पाप लगता है तो एक से अधिक बूँद का सेवन करनेवाले को निश्चय ही महापाप लगेगा। इसलिए श्रावक को शहद सेवन कभी भी नहीं करना चाहिए। यथा -

मधुकृदव्रातघातोत्थं मध्वशुच्यपि बिन्दुशः।
खादन् बध्नात्यघं सप्तग्रामदाहाहंसोऽधिकम्॥ 2.11॥

पण्डितजी कहते हैं कि वस्त्रकर्म, पिंडदान, नेत्रों में अंजन लगाना तथा मुँह में मकड़ी आदि के चले जाने पर इलाज करना आदि कार्यों के लिए भी मद्य, मांस और मधु का उपयोग कभी नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, किसी तरह का फूल नहीं खाना चाहिए किन्तु महुआ और भिलावे जिन्हें अच्छी तरह से शोध सकते हैं तथा नागकेसर आदि के सूखे फलों के खाने का अत्यन्त निषेध नहीं है। यथा -

प्रायः पुष्पाणि नाश्नीयान्मधुव्रत विशुद्धये।
वस्त्यादिष्वपि मध्वादिप्रयोगं नार्हति व्रती॥ 3.13॥

पण्डित आशाधरजी मक्खन व लौनी को भी अभक्ष्य पदार्थ मानते हैं क्योंकि इसमें दो मुहूर्त्त अर्थात् चार घड़ी (लगभग डेढ़ घण्टा) के बाद निरन्तर अनेक सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते तथा मरते रहते हैं। अस्तु, यह भी सर्वथा त्याज्य है। यथा -

मधुवन्नवनीतं च मुंचेत्तत्रापि भूरिशः।
द्विमुहूर्तात्परं शश्वत्संसजन्त्यङ्गिराशयः॥ 2.12॥

पण्डितजी अचार, मुरब्बा, दही-बड़ा, कांजीबड़ा, दो दिन-रात से अधिक का दही-छाछ को भी अभक्ष्य की कोटि में गिनाते हैं क्योंकि इनमें अनन्त जीव उत्पन्न होते रहते हैं। यथा -

संधानकं त्यजेत्सर्वं दधि तक्रं द्व्यहोषितम्।
काञ्जिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोऽन्यथा॥ 3.11॥

पण्डित आशाधरजी श्रावकों को भक्ष्य भोजन भी कब करना चाहिए इसकी भी सविस्तार तर्कपूर्ण चर्चा करते हैं। उनके अनुसार श्रावकों को अपने आश्रितों को भोजन कराने और निराश्रित लोगों को करुणाबुद्धि से दान देने के उपरान्त ही दिन में ही भोजन करना चाहिए।

पण्डितजी पाक्षिक श्रावक के लिए कहते हैं कि रात्रि में केवल जल, औषधि, पान, सुपारी, इलायची, जायफल, कर्पूर आदि मुख शोधन करनेवाले पदार्थों का सेवन कर सकते हैं। पर जो लोग रात में पेड़ा, बरफी, रबड़ी आदि का सेवन करते हैं वह बिल्कुल शास्त्रविरुद्ध है। यथा -

भृत्वाऽऽश्रितानवृत्याऽऽर्तान् कृपयाऽनाश्रितानापि।
भुञ्जीतान्ह्यम्बु-भैषज्यतांबूलैलादि निश्यपि॥ 2.76॥

पण्डितजी इस बात पर बल देते हैं कि भोजन सदा सूर्योदय रहते ही करना चाहिए अर्थात् सूर्योदय से दो घड़ी पूर्व और सूर्यास्त होने में शेष बची दो घड़ी में भोजन नहीं करना चाहिए। वे कहते हैं कि एक दर्शनिक श्रावक को रोग दूर करने के लिए आम, चिरौंजी, दालचीनी आदि फल, घी, दूध, ईक्षुरस आदि रस लेने का भी निषेध है अर्थात् हर प्रकार से रात्रिभोजन दोषयुक्त है। यथा -

मुहूर्त्तेऽन्त्येतथाऽऽद्येऽह्नो वल्भानस्तमिताशिनः।
गदच्छिदेऽप्याम्रघृताद्युपयोगश्च दुष्यति॥ 3.15॥

दिन की अपेक्षा रात्रि में भोजन करने में विशेष राग होता है, अधिक जीवों का घात होता है और जलोदर आदि अनेक रोग भी हो जाते हैं। पण्डित आशाधरजी तो यहाँ तक कहते हैं कि ये सारे दोष बिना छने पानी पीने में भी लगते हैं। पानी का अर्थ है पीने योग्य तरल पदार्थ। जैसे - पानी, घी, तेल, दूध, रस आदि। यथा -

रागजीवबधापाय भूयस्त्वात्तद्वदुत्सृजेत्।
रात्रिभक्तं तथा युञ्ज्यान्न पानीयमगालितं॥ 2.14॥

पण्डितजी रात्रिभोजन करनेवालों को वक्रोति के माध्यम से तिरस्कार करते हुए कहते हैं कि -

जलोदरादि-कृद्यूकाद्यङ्कमप्रेक्ष्यजंतुकम्।
प्रेताद्युच्छिष्टमुत्सृष्टमप्यश्नन्निश्यहो सुखी॥ 4.25॥

अर्थात् - जो रात्रि में भोजन करते हैं वे अनके प्रकार के रोगों से ग्रस्त रहते हैं, जैसे - भोजन के साथ जूँ खा जाने से जलोदर रोग, कोलिक खा जाने से कुष्ट (कोढ़) रोग, मक्खी खा जाने से वमन, मुद्रिका खा जाने से मेदा को हानि, भोजन में बिच्छू मिल जाने पर तालु रोग, काँटा या लकड़ी का टुकड़ा-बुरादा भोजन के साथ चले जाने पर गले में रोग, भोजन में बाल मिल जाने पर स्वरभंग आदि अनेक दोष रात्रि में खाने से प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ते हैं। इसके साथ ही बहुत से सूक्ष्म जीव जो अंधकार में दिखाई नहीं पड़ते हैं भोजन में मिल जाने पर अनेक रोगों और हिंसादि पाप बन्ध का कारण बनता है। इतना ही नहीं, पण्डित आशाधरजी आगे यह भी कहते हैं कि रात्रि में भोजन बनाने में भी षड्काय जीवों का हनन होता है। चाहे रात्रि का बना हुआ भोजन दिन में ही क्यों न खाया जाए। इसके अतिरिक्त रात्रि में पिशाच-राक्षस आदि निम्न कोटि के व्यंतरदेव घूमते रहते हैं। उनके स्पर्श कर लेने से भोजन अभक्ष्य हो जाता है जिसे रात्रि में खानेवाले बड़े चाव से खाते हैं। पण्डितजी कहते हैं कि रात्रि में भोजन करनेवाले को अनेक दोष लगते हैं। अतः अहिंसाणुव्रत की रक्षार्थ एक व्रती श्रावक को जीवनपर्यन्त मन, वचन, काय से रात्रि में

रोटी, दाल, भात आदि अन्न; दूध, पानी आदि पान, पेड़े-बर्फी आदि खाद्य और पान-सुपारी आदि लेह्य - इन चारों प्रकार के आहार का त्याग अपेक्षित रहता है। यथा -

अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धापि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत्॥ 4.24॥

पौराणिक दृष्टान्तों के माध्मम से पण्डितजी द्वारा सागारधर्मामृत में रात्रिभोजन-त्याग की महिमा का वर्णन भी स्पष्टतः परिलक्षित है जिसमें यह अभिदर्शित है कि रात्रि के एक पहर अर्थात् तीन घण्टे तक रात्रि भोजन त्याग करने से चांडालिनी ने अनेक पुण्यार्जन करते हुए एक सद्गृहस्थ की भूमिका का निर्वहन कर सुखों को प्राप्त किया। यथा -

चित्रकूटेऽत्र मांतगी यामानस्तमितव्रतात्।
स्वभर्त्रा मारिता जातानागश्रीः सागराङ्गजा॥ 2.15॥

इसी प्रकार वनमाला का दृष्टान्त भी रात्रि भोजन करनेवाले को रात्रिभोजन-त्याग करने की प्रेरणा देता है जिसमें रात्रिभोजन को पंच पापों से भी बढ़कर महापापों में परिगणित किया गया है। यथा -

त्वां यद्युपैमि न पुनः सुनिवेश्य रामं,
लिप्ये बधादिकृदघैस्तदिति श्रितोऽपि।
सौमित्रिरन्यशपथान्वनमालयैकं,
दोषाशिदोषशपथं किल कारितोऽस्मिन्॥ 4.26॥

पण्डितजी अहर्निश भोजन के आधार पर मनुष्यों की कोटि तीन रूपों में निर्धारित करते हैं -

1. उत्तम मनुष्य
2. मध्यम मनुष्य
3. जघन्य मनुष्य

पण्डितजी के अनुसार उत्तम मनुष्य वे हैं जो मुख्यरूप से शुभकार्य करते हुए दिन में एक ही बार भोजन करते हैं। मध्यम मनुष्य मध्यम रीति से शुभ कर्म करते हुए दिन में दो बार भोजन करते हैं और जघन्य मनुष्य वे हैं जो पशुओं के समान दिन-रात खाते रहते हैं, जिन्हें रात्रि-भोजन-त्यागरूप व्रत के गुणों का कोई भान नहीं होता है। यथा-

भुञ्जतेऽह्नः सकृद्वर्या द्विर्मध्याः पशुवत्परे।
रात्र्यहस्तद्व्रतगुणान् ब्रह्मोद्यान्नावगामुकाः॥ 4.28॥

पण्डित आशाधरजी ने एक ओर जहाँ भक्ष्य-अभक्ष्य के साथ दिवा भोजन के महत्त्व को दर्शाया है वहीं उन्होंने भोजन करते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए

इस पर भी प्रभावक ढंग से प्रकाश डाला है। पण्डितजी के अनुसार व्रतों की रक्षार्थ और तपश्चरण के वृद्धि हेतु प्रत्येक श्रावक को भोजन करते समय विवेक रखना पड़ता है तथा सावधानी भी बरतनी पड़ती है। श्रावक के भोजन सम्बन्धी जो अन्तराय हैं उनका भी विधिवत पालन करना पड़ता है। यथा -

अतिप्रसंगमसितुं परिवर्धयितुं तपः।
व्रतबीजवृतीर्भुक्तेरन्तरायान् गृही श्रयेत्॥ 4.30॥

अन्तरायों के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि यदि श्रावक के भोजन के समय इनमें से कोई भी अन्तराय आता है तो श्रावक को निर्मल परिणति के साथ तुरन्त भोजन त्याग देना चाहिए। यथा -

दृष्ट्वाऽद्रचर्मा-स्थिसुरा-मांसासृक्पूयपूर्वकं।
स्पृष्टवा रजस्वला शुष्क चर्मास्थिशुनकादिकम्॥ 4.31॥
श्रुत्वाऽति कर्कशा क्रंद विड्वर प्रायनिः स्वनम्।
भुक्त्वा नियमितं वस्तु भोज्येऽशक्यविवेचनैः॥ 4.32॥
संसृष्टे सति जीवद्भिर्जीवैर्वाबहुभिमृतैः।
इदं मांसमिति दृष्टसंकल्पे वाशनं त्यजेत्॥ 4.33॥

अर्थात् - सूखे चमड़े, गीले चमड़े, हड्डी, मद्य, मांस, रुधिर, पीब, चर्बी, अंतड़ी, रजस्वला स्त्री आदि को देखकर या छूकर; कुत्ता-बिल्ली आदि के शब्द सुनकर; 'मार दो-काट दो' आदि अत्यन्त कर्कश शब्द; हाय-हाय ऐसे आर्त्तनाद; परचक्र का आना; महामारी का फैलना आदि शब्दों के सुन लेने पर; जिस वस्तु का त्याग कर दिया है उसके भोजन कर लेने पर; जिन्हें भोजन में से अलग नहीं कर सकते ऐसे जीवित दो इन्द्रिय, त्रि-इन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय जीवों के संसर्ग हो जाने पर अथवा मरे हुए जीवों के मिल जाने पर, खाने की वस्तु में यह मांस के समान है, यह रुधिर के समान है, यह हड्डी के समान है, यह सर्प के समान है, मन में ऐसा विकल्प हो जाने पर व्रती श्रावक को उस समय का आहार छोड़ देना चाहिए। दूसरे किसी समय वह भोजन कर सकता है।

पण्डितजी आगे लिखते हैं कि भोजन के समय मौन धारण करना भी अहिंसाणुव्रत का शील है। इसलिए व्रती श्रावक को इष्ट भोजन की प्राप्ति के लिए अथवा भोजन की इच्छा प्रगट करने के लिए हुं-हुं करना, खँखारना, भौंह चलाना, मस्तक हिलाना या अँगुली चलाना आदि अपने अभिप्राय प्रकट करनेवाले संकेतों को छोड़कर तथा भोजन के पहले और पीछे क्रोध, दीनता आदि संक्लेशरूप परिणामों को छोड़कर इच्छा के निरोध करने रूप तपश्चरण और इन्द्रिय-संयम, प्राणि-संयम को बढ़ानेवाला मौनव्रत भोजन करते समय अवश्य धारण करना चाहिए अर्थात् मौन धारण किए पीछे भोजन की लालसा-इच्छा करने

के लिए किसी तरह का कोई संकेत नहीं करना चाहिए परन्तु यदि वह भोजन के निषेध करने के लिए किसी तरह का संकेत करना चाहे तो उसमें कोई दोष नहीं है। यथा -

गृद्ध्यै हुंकारादिसंज्ञां संक्लेशं च पुरोऽनु च।
मुञ्चन्मौनमदन् कुर्यात्तपः संयमबृंहणम्॥ 4.34॥

पण्डितजी कहते हैं कि मौनव्रत धारण करने से भोजन की लोलुपता शान्त होने से तप की वृद्धि होती है और श्रुत ज्ञान का विनय होने से पुण्य का कारण बनता है अस्तु, श्रावक को मौनव्रत से दो प्रकार के प्रत्यक्ष लाभ मिलते हैं। यथा -

अभिमानावने गृद्धिरोधाद्वर्धयते तपः।
मौनं तनोति श्रेयश्च श्रुतप्रश्रयतायनात्॥ 4.35॥

इस प्रकार सागारधर्मामृत में पण्डित आशाधरजी ने श्रावकों के लिए मोक्षमार्ग को प्रशस्त करनेवाला आधार-सेतु 'चारित्रपक्ष' पर प्रकाश डालते हुए आहार-विज्ञान पर विशेष बल दिया है। श्रावक के पवित्र आचरण की सुदृढ़ नींव है। आहार की विशुद्धता, जिसे पण्डितजी ने अपने वैदुष्य अनुभव-नवनीत से सागारधर्मामृत में सरल व सरस शैली में आगमानुरूप प्रस्तुत कर सुधी श्रावकों-मुमुक्षुओं के लिए एक महनीय कार्य किया है।

- मंगलकलश
394, सर्वोदयनगर
आगरा रोड, अलीगढ़-202001 (उ.प्र.)

▲▲▲

स्त्री की उपेक्षा हानिकारक

व्युत्पादयेत्तरां धर्मे पत्नीं प्रेम परं नयन्।
सा हि मुग्धा विरुद्धा वा धर्माद् भ्रंशयतेतराम्॥ 3.26॥ सा.ध.

- श्रावक को धर्म के विषय में उत्कृष्ट प्रेम उत्पन्न कराते हुए पत्नी को धर्म के सम्बन्ध में अधिक व्युत्पन्न करना चाहिये, क्योंकि यदि वह धर्म के विषय में मूढ़ हो या धर्म से द्वेष करती हो तो वह पति को धर्म से दूसरे की अपेक्षा अधिक भ्रष्ट करती है।

अर्थात् यदि पत्नी धर्म से विद्वेष करनेवाली हुई तो वह समस्त परिवार की अपेक्षा गृहस्थ को धर्म से अधिक च्युत कर सकती है इसलिए अपना हित चाहनेवाले बुद्धिमान गृहस्थ को अपनी भार्या को धर्म मार्ग में विदुषी बनाना चाहिये।

स्त्रीणां पत्युरुपेक्षैव परं वैरस्य कारणम्।
तन्नोपेक्षेत जातु स्त्रीं वाञ्छन् लोकद्वये हितम्॥ 2.27॥ सा.ध.

- पति के द्वारा की गई उपेक्षा ही स्त्रियों के अत्यधिक वैर का कारण है (पति के द्वारा उपेक्षा करने पर स्त्रियों में उनके प्रति वैरभाव उत्पन्न होता है) इसलिए इस लोक और परलोक में सुख और सुख के कारणों के चाहनेवाले श्रावक को अपनी स्त्री की कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

अनु. - **पं. कैलाशचन्द शास्त्री**